# भूमिका

आर्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द सरस्वतीको गुहा प्रवेश किये हुए ५० वर्षके लगभग व्यतीत होचुके परन्तु खेद है कि उनके मुख्य उद्देश्य समझनेकेलिये अब तक किसी ने भी सराहनीय चेष्टा नहीं की।

यह एक सांसारिक प्रवृत्ति है कि मनुष्य अपने कैसे ही अनुचित विचारोंको दूसरोंपर बलात् लादना चाहता है और दूसरे के विचार चाहे कितने ही उदार तथा मार्जित हो पर उनकी अवहेलना किये बिना नहीं रहता अपने से विरुद्ध विचार रखने वालोंको मिथ्या कलङ्क निंदा दुर्वचन कहना तो आजकल समालोचनाका अङ्ग ही बन गया है ऐसी दशा में अपने से विरुद्ध विचार रखने वाले स्वा० दयानन्द सरस्वती के विचार पारावारमें मन्थराचलकी भांति निमग्न होकर तात्विक गम्भीरता का पता लगाने वाले अनेक मनुष्य नहीं मिल सकते।

इस पुस्तक में यह सिद्ध किया गया है "कि स्वा० दयानन्द सरस्वती सनातनधर्मके ही प्रधानपुरस्कर्ता थे " यद्यपि इसे मानने के लिये आज कोई भी उद्यत नहीं है परन्तु यह किसी के पास प्रमाण नहीं है कि इसको भविष्य में भी कोई न मानेगा।

यदि आज मैं अनुदार मनुष्यसमाजके कटाक्षोंसे भयभीत होकर स्वा० दयानन्द द्वारा की गई सनातनधर्म की सेवाओंके वर्णन करनेमें मौनता स्वीकार करूं तो फिर दो अक्षर का ज्ञान प्राप्त करनेसे लाभ ही क्या हुआ।

विद्वानोंके हृदयमें यह एक असह्य बाण गड़ा रहता है जो गुणवान्‌के गुण वर्णन करनेमें मौनता स्वीकारकी जाती है किसी कविने कहा है कि—

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्

अर्थात्—वाणी का जन्म लेना निष्फल है तथा यह एक असह्य बाण है जो गुणयुक्त वस्तु की प्रशंसामें मौनता स्वीकार की जाती है कोई विक्षिप्त (पागल) पुत्र अपनी माता द्वारा कीगई सेवाओंका प्रतिफल न देवे तो इस का कोई खेद नहीं परन्तु खेद तो इस बात का है कि वह पागल पुत्र अपनी उस सेवा करने वाली माताको पहचानता तक नहीं। जिस स्वा० दयानन्दने अपने जीवनको हिन्दूजातिकेलिये न्यौछावर कर दिया उस जातिवाले उसे श्रद्धाञ्जलि समर्पण करके कृतज्ञताका परिचय दें यह तो एक दूरकी बात है परन्तु आज तोवे यह पहिचाननेतकमें असमर्थ हो रहे हैं कि स्वामीजी हमारे हीथे। साधारण मनुष्य कस्तूरी के बाहरीमलिन रङ्ग को देखकर उसे फेंक सकता है। परन्तु भावुक मनुष्यकेलिये यह एक कठिन बात है क्योंकि वह उसके बाहरी रूप को न देख कर उसको सुगन्धि से पहचान करना जानता है।

अनसमझ आदमी का ख्याल हो सकता है कि इस प्रकार स्वा० दयानन्दकी प्रशंसा करके आर्यसमाजकी चापलूसी की गई है परन्तु यह ध्यान रहे कि आर्यसमाजी इतने मूर्ख नहीं हैं जो स्वामीजी को सनातनी कहने पर भी प्रसन्न हो जावें उनकी प्रसन्नता या अप्रसन्नता का ध्यान रखने की आवश्यकता ही क्या है इसलिये अनसमझोंकी बातों पर अधिक लिखना व्यर्थ है।

इस पुस्तक में प्रसंगवश जैन बौद्ध सिक्ख आर्य सनातन सबकी चर्चा की गई है इसलिये इसको "हिंदुसंगठनका मूलमन्त्र" कहा जाय तो कोई अनुचित बात नहीं है जब सनातनी जनताको यह विदित होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने हमारा ही कार्य सम्पादन किया है तो जो आज स्वामीजीका विरोध मनमाना करते हैं उनसे प्रेम करने लगेंगे इससे आर्य और सनातनियोंका संगठन होकर देश और जातिका अतीव उपकार होना सम्भव है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीको सनातनधर्मके प्रधान पुरस्कर्ता बतानेसे आर्यसमाजी तथा सनातनी दोनोंको ही नाक भौंहें भिन्न २ कारणोंसे सिकुड़ना सम्भव है परन्तु क्या किसीके संकोचसे सचाईके प्रकट करने में संकोच करना चाहिये।

इस पुस्तकमें केवल स्वामीजीके मतका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है क्योंकि उनके वेदभाष्य तथा उर्दू में लिखे हुऐ जीवन चरित्रोंके पढ़नेका हमको अवकाश नहीं मिला और उनसे प्रमाणोंके उद्धृत करनेसे पुस्तकके आकार बढ़ जाने का भी भय था इसलिये विद्वज्जन इस विषयका अधिक विवेचन करना चाहें तो स्वामीजीके लिखे हुए ग्रन्थोंका उत्तमरीति से आलोडन तथा उनके जीवनकी घटनाओंका जहां तक होसके पुनर्गवेषणा करने की कृपा करें।

जहांतक होसका है यह ध्यान रखा गया है कि इस पुस्तक में अप्रमाणिक तथा निःसार कोई बात न लिखी जावे परन्तु मनुष्य स्वभाव अल्पज्ञ होनेसे ऐसा हो जाना पद २ पर सम्भव है अतएव सज्जन क्षमा करेंगे।

इदं दयानंदसरस्वतीमतं ।निजं पुरस्ताद्विदुषां समर्प्यते
विचारदिष्यान्तितरां विपश्चित उदात्तदत्येति
निवेद्यते मया ।

अर्थात्—यह "स्वा० दयानन्दसरस्वती का निजमत
"विद्वानोंके सन्मुख उपस्थित कियाजाताहै आशा हैकि पण्डित
अपनी उदार बुद्धिसे इस पर विचार करेंगे बस यही अन्तिम
निवेदन है ।

(श्रा० शु० १० सं० १९८४ वि०) पं० गङ्गाप्रसाद शास्त्री
रामगढ़ ( अलवर )

* ओ३म् *

# मंगलाचरण

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तयामामद्यमेधया अग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।
यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव विलीयते
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः

इस धर्मप्राण आर्यजातिपर सृष्टिके आदिसे लेकर अनेक घोर संकट आये परन्तु आश्चर्यकी बात है कि अभी तक यह जीवित है संसारकी अनेक जातियां बेबिलोनियां आदि आविर्भाव होकर तिरोभावको प्राप्त हो चुकी और अब उनका नाम केवल इतिहासके पृष्ठों पर शेष है परन्तु यह वृद्ध आर्यजाति अब भी तरुण जातियोंसे टक्कर लेनेके लिए सन्नद्ध है जिसका एकमात्र कारण यही है कि इस जातिमें अनेक अवतार तथा बड़े २ योगी सन्यासी महात्माओं का प्रादुर्भाव होता रहता है जो समय २ पर देशकालानुसार इस जातिकी कायाकल्प किया करते हैं इसके लिए इसके पिछले इतिहास पर सिंहावलोकन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

महाभारतके अनन्तर देशमें एक महान् विप्लव उत्पन्न हुआ और अविद्याने आर्योंके हृदयों पर अपना प्रभुत्व स्थापन करना प्रारम्भ किया। ब्राह्मणोंको स्वार्थ और क्षत्रियोंको भोग विलास सताने लगा, मांस मदिराकी चर्चा सर्वत्र फैलगई और जिन यज्ञोंको * अध्वर (हिंसारहित) कहतेथे वेही हिंसाके केन्द्र बनगये आजकलके बूचड़खानोंसे उस समयकी यज्ञशालाओंका भयानक दृश्य था अब पशुवधके अनन्तर चर्म उतारी [illegible] परन्तु अब जीवित पशुओंकी ही चर्म उतारी

जाने लगी और पशुओंकी इन्द्रियोंको लीं २ कर जोवितोंको ही अग्निमें आहुति देने से यज्ञकुण्डचिताकुण्डका मांस चटचटाने लगे अग्निपर पकते हुए मांसके पुरोडाशसे वायु सुगन्धित समझा जाने लगा ( वाल्मीकीय रामा० बा० स० १४ श्लो० ३६) और बेजुबानों के रक्त की नदी बह निकली ( मेघदूत श्लो०) जिसका वर्णन महाभारतमें इस प्रकार है—

> सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिं न्यवसन् गृहे
> आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः
> तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः
> सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा
>
> ( म० शा० अ० २८, १२७---१२८ )

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घर पर जिस रातको अतिथि ठहरे उस रात्रिको ११२० गायें मारी गई आये हुए अतिथियोंको भोजन समय अच्छे २ कुण्डल पहने हुए रसोइये पुकार कर कह रहे हैं कि अब केवल सूप ( दाल ) खाइये मांस आज उतना नहीं है जितना पहिले था।

इसके अतिरिक्त इन वाममार्गियोंने किस प्रकार प्रमाणिक ग्रन्थोंमेंभी क्षेपक मिलाकर अध्वरोंमें *पशुहिंसाका प्रचार करना प्रारम्भ किया उनका भी दिग्दर्शन करादेना उचित है।

राजा दशरथके ऋष्यश्रृङ्ग द्वारा प्रारम्भ किये हुए यज्ञका वर्णन वाल्मीकीय रामायण में इस प्रकार लिख दिया है।

---

*अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः नि०।१८ अध्वर यज्ञका नाम है क्योंकि इसमें हिंसाका निषेध है—

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः
कृपाणै र्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजैः
(वा० रा० बा० सं० १४ श्लो० ३३)

कौसल्याने उस अश्वको परिक्रमा करके प्रसन्नता पूर्वक तीन कृपाणसे उसे काट दिया । अश्वके सारे अङ्गोंको सारे ब्राह्मण और सोलह ऋत्विक् अग्निमें विधि सहित हवन करने लगे, परन्तु इस पर थोड़ा भी सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो फौरन पता लगजाता है कि यह कार्यवाही वाम मार्गियोंकी है। महर्षि वाल्मीकिका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिस चतुर्दश सर्गमें इस अश्वमेधयज्ञका वर्णन है इसके अन्तका यह श्लोक है—

अ तस्य वाक्यं मधुरं निशम्य प्रणम्य तस्मै प्रयतो नृपेन्द्रः
जगाम हर्षं परमं महात्मा तमृष्यशृंगं पुनरप्युवाच
(वा० रा० बा० १४, ६०

उस ऋषिके मधुर वचनको सुनकर नम्रतासे प्रणाम करके राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए और उन ऋष्यशृंगसे फिर बोले यहां सर्ग समाप्त होचुका अगले सर्गके प्रारम्भमें राजा दशरथको अपना वक्तव्य विषय कहना चाहिए परन्तु सर्गारम्भमें ऋषि बोल पड़ता है।

मेधावी तु ततो ध्यात्वा सकिंचिदिदमुत्तरम्
लब्धसंज्ञः ततस्तंतु वेदज्ञो नृपमब्रवीत्
इष्टिं तेहंकरिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात् (वा० स० १५

वेदज्ञ बुद्धिमान् ऋष्यशृंगने ध्यान करके कहा कि मैं तुझे पुत्रेष्टियज्ञ पुत्रोत्पत्तिके लिए कराऊंगा इस प्रकार दशरथके स्थानमें ऋष्यशृंगके बोल उठनेसे प्रत्येक व्यक्ति कह सकता है कि १४ सर्गके अन्तके श्लोकसे १५ सर्गके प्रथम श्लोकसे कोई सम्बन्ध नहीं है। और १३वें सर्गके अन्तिम श्लोकसे १५वें सर्गके प्रथम श्लोकका स्पष्ट सम्बन्ध है।

ततो वशिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः
ऋष्यशृंगं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा
यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजादीक्षामुपाविशत्
( बा० स० १३ श्लो० ३० )

वसिष्ठ आदि सारे ब्राह्मण ऋष्यशृंगको आगेकरके यज्ञ-स्थानमें आकर यथाविधि यज्ञकरानेलगे और राजा अपनी पत्नियों सहित दीक्षामें बैठा इन श्लोकोंके अनन्तर १५वें सर्गके श्लकों द्वारा ऋष्यशृंगके ध्यान करके राजाको पुत्र प्राप्तिके लिए कहना और यज्ञका आचार्यत्व स्वीकार करलेना समुचित ही है—

इससे १३वेंसर्गका १५वेंसर्गसे सम्बन्धहै १४वां सर्ग जिसमें अश्वमेधका प्रकरण है १५वें सर्गसे अन्वय नहीं खाता इसके अतिरिक्त १४वें सर्गका प्रारम्भ भी तेरहवें सर्ग की समाप्तिसे नहीं मिलता—

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ।
ऋष्यशृंग पुरस्कृत्य, इत्यादि बा० स० १४ श्लोक १

सरयू के उत्तर किनारे ऋष्यशृंगको आगे करके राजा यज्ञ करने [illegible] यह बात तो उद्धृत किए हुए १३ वें

सर्गके अन्तके श्लोकोंमें कही जाचुकी ( स० १३ श्लो० ४० ) उसका पुनरुक्त दोषसे वर्णन करना आदिकाव्यको दूषित करना है अतएव चतुर्दश सर्ग प्रक्षिप्त ही समझना चाहिए-

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि राजा दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहेथे पुत्रेष्टि यज्ञमें अश्व मारकर हवन करना किसीने भी नहीं माना है-और न अश्वमेध पुत्रेष्टि यज्ञका कोई अंगही है "महाभारतके वनपर्वमें रामोपाख्यानहै उसमें समस्त रामचरितहै परन्तु वहां रामचन्द्रजी के जन्मके लिये ऋषिशृंग द्वारा कीगई पुत्रेष्टि का वर्णन नहीं है" ( महा० मीमांसा० पृ० २२ ) तब अश्वमार कर हवन करने का प्रकरण १४वें सर्ग द्वारा मिला देना किसी धर्मद्रोही-दुरात्मा के दुस्साहसके सिवाय और क्या कह सकते हैं यजुर्वेदमें स्पष्ट लिखा है—

योऽर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः परो मर्त्तः परः श्वा (यजुर्वेद २२।५) योऽर्वन्तमश्वं जिघांसति हन्तुमिच्छति वरुणः तमश्वं जिघांसन्तमभ्यमीति हिनस्ति (महीधरभाष्य)

जो अश्वको मारना चाहता है उसको वरुण नष्ट करता है। और वह मनुष्य निरस्कृत कुत्तेकी तरह अपमानित होता है-इसके अतिरिक्त शास्त्रोंमें एक गोघ्न, शब्द अतिथि का पर्याय-वाची आता है-उसका अर्थ भी इन वाममार्गियोंने "गांहन्तियस्मै इति गोघ्नः अतिथिः" अर्थात् गाय जिस केलिये मारीजाय उसे गोघ्न या अतिथि कहते हैं-ऐसा किया है-परन्तु यह इनका अज्ञान अथवा पक्षपात है-पाणिनिमुनिने धातुपाठमें हन् धातु हिंसा और गति ( ज्ञान गमन प्राप्ति ) अर्थमें लिखाहै इसलिए गोघ्न शब्दका अर्थ है किगाय जिसके कारण प्राप्त कीजाय अर्थात् रखनी पड़े उसे गोघ्न कहते हैं पाणिनि मुनिने स्वयं अष्टाध्यायी मेंलिखा है "उपघ्न आश्रये" (अष्टा०३।३।८५) यहाँ उपघ्न शब्दकी

व्युत्पत्ति करते हुए भट्टोजी लिखते हैं कि "उपगम्यते सामीप्येन गम्यते इति उपघ्नः" जिसके समीप जावे उसे उपघ्न कहते हैं संघोद्घौगणप्रशंसयोः (अ०।३।३।८६) संहननं संघः उद्धन्यते उत्कृष्टो ज्ञायते इति उद्घः, गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् हन्ति जाने (सि० कौ० पृ० ५४८ ) अर्थात् अच्छी प्रकार संगठितों का नाम संघ और और अच्छी प्रकार जाना जाय उसे उद्घ कहते हैं यहाँ स्पष्ट हन् धातु प्राप्ति और ज्ञानमें विद्यमान है इसी स्थान पर " दाश गोघ्नौ सम्प्रदाने ( अ० ३ । ४ । ७३ ) इस सूत्रमें गोघ्न शब्द सिद्ध किया है जब हन् धातुका हिंसा अर्थ छोड़कर ज्ञान गमन प्राप्ति अर्थमें स्वयं पाणिनिने प्रयुक्त किया है तब गोघ्न शब्दमें गत्यर्थ न मानकर हिंसार्थक ही मानना कितना दुराग्रह है इसे पाठक स्वयं विचारें।

समस्त हिन्दुमात्र यह जानते हैं कि ऋषिमुनि लोग अतिथियोंका सत्कार दधि ( मधुपर्क ) दुग्धादिसे किया करते थे और आश्रममें एक २ गौ रखा करते थे यमदग्नि ऋषिके पास एक गौ थी जिसके दुग्धादि द्वारा संचित पदार्थोंसे राजा सहस्रार्जुनकी फौजका अतिथि सत्कार किया गया उस उत्तम गौ को राजाने छीनना चाहा इस पर झगड़ा बढ़ा यमदग्नि और सहस्रार्जुन दोनों मारे गये। और इसी अतिथि सत्कार के लिए वशिष्ठ के पास नन्दिनी नामक गौ थी जिसकी सेवा दिलीपने की थी और वसुओं ने इसका हरण भी किया था और विश्वामित्र तथा वसिष्ठका झगड़ा भी इसी गौ पर हुआ था ( म० भा० ) इससे सिद्ध है कि अतिथियों की सेवा और पूजाके लिये गृहस्थ लोग विशेष रूपसे गौ रखा करते थे परन्तु कालकी गति बड़ी प्रबल है जो गौ अतिथियोंकी सेवाके लिए माता स्वरूप थी उसको ही कृतघ्न

मनुष्य मार २ कर खाने लगे गौओंके करुणाक्रन्दनसे आकाश गूंज उठा और पृथ्वी थरथराने लगी। आवश्यकता हुई कि कोई ऐसी आत्माका आविर्भाव हो कि इस अन्याय को दूर करके हिन्दु जाति की इस कुसमयमें रक्षा करें।

जो ईश्वर इस संसारकी रचना करता है वही इसकी रक्षा करनेमें भी समर्थ है अतएव उसने गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वा० को जगतमें प्रकट किया भगवान् बुद्ध तथा महावीर स्वा० का जन्म एक प्रसिद्ध राजकुलमें हुआ था अतएव सब प्रकार के भोग विलासकी सामग्री उनके लिए प्रस्तुत थी परन्तु क्या स्वभाविक ज्ञानी आत्मा इन विषयोंकी उपलब्धिसे लोकोपकार को भूल सकता है। वे रात दिन संसारकी चिन्तासे चिन्तित होने लगे जीवहिंसाके करुणा हृदयसे हृदय मोम होकर पिघलने लगा, और यागयाज्ञिकोंके अत्याचारसे उनका कलेजा दहल उठा पिता उन्हें एक चक्रवर्ती राजा देखना चाहते थे परन्तु वे तो आये ही और कार्यके लिये थे। गौतमबुद्धका विवाह करके उनके पैरमें एक मनोरमा स्त्री की बेड़ी डालदी गई और उससे उनके एक पुत्र रत्न भी उत्पन्न हुआ पुत्रके उत्पन्न होनेसे वे व्यग्र हो उठे चित्तमें विचारने लगे कि मैं कठिनतासे पकड़ा गया और संसारके प्राणी दुर्दशामें हैं परन्तु जो आत्माएं निर्बन्ध हैं उन्हें कौन बांध सकता है उन्होंने पुत्र मुख देखकर चुपचाप वनकी राह ली। सनातनधर्मियों का विश्वास है कि बुद्ध ईश्वरके अवतार या आचार्य थे वेद यज्ञ ईश्वरकी सत्ता और धर्मके प्रचारके लिए ही युग २ में अवतार या आचार्य आया करते हैं परन्तु यहां कुछ बात ही और हुई उन्होंने गया नामक स्थानमें तपस्या करके बुद्धत्व प्राप्त किया और अपना सिद्धान्त प्रचार करनेके लिए कार्यक्षेत्रमें

उनरे वेद यज्ञ ईश्वर देवता आत्मा आदि का खण्डन करने लगे।

भगवान् बुद्ध का मत था कि आत्मा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है वह प्रकृतिने चेतनताको प्राप्त होकर जन्म मरणके चक्कर में आती है उत्तम कर्मों द्वारा दीपक की भांति निर्वाण को प्राप्त हो जाती है और अन्तमें उसकी कोई सत्ता नहीं रह पाती। ईश्वर कोई वस्तु नहीं है, संसार शून्यसे उत्पन्न हुआ है, वेद मनुष्यकृत पुस्तक हैं यज्ञकरके पशुको स्वर्ग भेजते हो तो अपने पिताको मार कर स्वर्ग क्यों नहीं भेजदेते, यज्ञादि कार्य मिथ्या विश्वास है, वर्णाश्रम धर्म थोथा ढकोसला है तप करना व्यर्थ काया क्लेश है।

अब विचार करना चाहिए कि क्या कोई उपर्युक्त मतका प्रचार करके भी वैदिक धर्मका रक्षक हो सकता है यदि नहीं तो फिर भगवान् बुद्ध किस प्रकार ईश्वरावतार या आचार्य माने जा सकते हैं अवतार या आचार्य तो बात ही दूसरी है इन उपर्युक्त बातोंमें से एक का भी प्रचार करने वाला सनातनधर्मी नहीं कहा जा सकता तब गौतम बुद्धमें क्या ऐसी बात थी जिसको लक्ष्य करके ऋषि मुनियोंने उनको अवतार या आचार्य समझ लिया।

यह सब जानते हैं कि जितनी यज्ञोंमें पशुहिंसा होरही थी वह सब ईश्वर तथा देवताओंकी तृप्तिके लिए और अपनेको स्वर्ग लेजानेके लिए हीथी वेदही इन यज्ञोंका आधार बनाया जाताथा और स्वार्थी ब्राह्मण ही इन सब बातोंके प्रचारकथे। इस प्रकार वेदके नामपर होने वाली हिंसाका प्रचार रोकना चाहिए और उसके दोही मार्गथे। यातो इस सत्यताका प्रचार कियां जाताकि—

नैष मार्गः सतां देवाः यत्र बध्येत वैः पशुः (म० शा० ३३७-५)

अर्थात् यह सज्जनोंका मार्ग नहीं है कि यज्ञमें पशुवध किया जाय।

कीटान्हत्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
तेनैव गम्यते स्वर्गे नरकं केन गम्यते ।

कीट और पशुओंको मार कर खूनकी कीचड़ करने सेही कोई स्वर्ग जाता है तो नरक जानेका और कौनसा मार्ग हो सकता है अतएव सात्विक यज्ञयाग द्वारा ईश्वर या देवता ओंकी तृप्ति करनी चाहिए और इसीसे आत्माको सद्गति प्राप्त होती है। दूसरा एक मार्गहिंसानिवृत्तिका उस समय यह भी होसकताथा किजिस ईश्वरकी तृप्ति केलिए यज्ञ करतेहो वह कोई है ही नहीं 'और जिस वेदके विश्वाससे करते हो वे वेदभी मिथ्या हैं यज्ञयाग सब व्यर्थ हैं जन्मसे ब्राह्मण कोई नहीं है इससे इन ब्राह्मणोंके उपदेशको मतमानो यह आत्मा कोई वस्तु नहीं है जिसे स्वर्ग लेजाना चाहते हो। भगवान् बुद्धने द्वितीय मार्ग काही अवलम्बन किया और याज्ञिक हिंसाको संसारसे बिदा करदिया।

इन दोनों मार्गोंमें शीघ्रतासे हिंसा प्रचार को रोकने वाला मार्गहमारी सम्मतिमें यही उत्तमथा जो भगवान् बुद्धने स्वीकार किया क्योंकि प्रथममार्ग जिसमें वेदोंको प्रमाण मानकर यज्ञादि प्रचलित रखके उनसे हिंसाका संशोधन करना बहुत विलम्ब साध्यथा और यही कारण थाकि वेदादिके विरोध करने पर भी तत्वहीन मुनियोंने बुद्धको ईश्वरका अवतार या आचार्य मानलिया और यह वेदादि सम्बन्ध हिंसानिषेधका एक आवजी और बनावटी साधन समझा गया।

ईश्वरीय इच्छा पूर्ण हुई और संसारमें शान्ति विराजने लगी वेदका विरोध आत्मा-विषयक असत्कल्पना आदि जो कुछ बौद्धधर्म के कारण प्रचलित होगईथी उसका शंकराचार्यने खण्डन करके सनातन वैदिक धर्मका पुनरुज्जीवन किया।

यह तो अच्छाही हुआकि बौद्धधर्म भारतसे विदाहो करके अन्य देशोंमें विस्तार पागया। परन्तु बौद्धोंकी दयालुता से राक्षस प्रकृतिके मनुष्य अनुचित लाभ उठाने केलिए उद्यत होने लगे।

आज से १४०० वर्ष पूर्व अरब बड़ा जंगली देशथा वहांके लोगबड़े खूंख्वार होतेथे किसीके खेतमें एक ऊंट आगया खेत वाली स्त्रीने उसे मारदिया ऊंट वालेने स्त्रीके स्तन काटलिए इस बात पर सन् ४९४ से ५३४ ई० तक ४० वर्ष अनेक घराने युद्ध करते रहे यह लड़ाई खुदाके दो नबियों में प्रारम्भ हुई थी जिसमें सत्तर हजार मनुष्य मारे गये।

किसी घुड़दौड़में किसीका घोड़ा किसीने चमका दिया इस पर सन ५६८ से सन् ६३१ ई० तक ३३ वर्ष आधा अरब कटता मरता रहा, वहां जिनाकारी मक्कारी शराब आदिका बाजार खूब गर्मथा किसीके पिताके यदि १० स्त्री हों और वह मर जाय तो उन सबको उसका बेटा अपनी बीबी बनालिया करता, उनके हब्शीपन का वर्णन मौलाना हालीने इस प्रकार किया है।

'चलन उनके जितने थे सब वहशियाना,
हरयक लूट और मार में था यगाना।
बैठे कत्लोगारत में चालाक ऐसे,
दरन्दे हों जंगल में बेबाक जैसे।
न शथा व गफलत थी दीवानगी थी,
गरज हरतरह उनकी हालत बुरी थी।

शेख मुहम्मद यूसुफ फ़क़ीरसूर ( कादयानी ) लिखते हैं कि-अरबमें वही आदमी कौममें जियादा बारसूख़ व गीन शुमार किया जाताथा जो पानी की तरह शराब पीता हो और हैवानों कीतरह-ज़िना करता हो और वहशी दरन्दों की तरह ज़ालिम व सफ़्फ़ाक हो ( बाबा नानक का मज़हब ) उसी ज़माने में और उसी देश में हज़रत मुहम्मद सा० ने इस्लाम की नींव रक्खी।

अरब देशको परिस्थितिके विचारनेसे यह तो साफ ही है कि ऐसे समयमें उत्पन्न होने वाले इस्लाम धर्ममें दर्शनिक विचार और तात्विक विवेचन कहांसे होसकते हैं। उन लोगोंमें मस्तिष्क शक्ति तो कोई थी ही नहीं वैसे निरेखूख्वार थे इसलिए उनकी चमकती हुई तलवार ही वर्तमान इस्लाम धर्मका कारण बनी। उसको मनसराज ने तारीख फारोज़ शाहीमें स्वीकार किया है।

हम बुतारा सोख़्तह हम बुतपरस्तां रा बसोख़्त
हम वक़ुश्त आतशपरस्तां आतशेरा हम बकुश्त।

अर्थात् मूर्तियोंको जलाडाला और बुतपरस्तोंको भी जला डाला पारसियों को भी मार डाला और उनकी आगको भी मारदिया।

अलबरूनी और ह्वेनचांग दोनों का यही मत है कि इस-लामके आरम्भमें सारे मध्य एशियामें बौद्धधर्मथा अन्य देशोंमें भी बौद्ध फिलासफी असर कर रहीथी अफ़ग़ानिस्तान में प्रायः बौद्धही थे इस लिए मुसलमानों की बनपड़ी और बौद्ध लोग तलवार के डरसे इस्लाम में दाखिल होने लगे बख़्तियार ख़िलजी के समय समयमें मुहम्मद खिलजीने कुल दोसो आदमी लेकर बंगाल पर धावा मारा यही आश्चर्य की बात है

कि सारे बौद्ध भाग गए और बौद्धधर्म अपनी जन्म भूमिसे भी नष्ट हो गया।

परन्तु यह हाल हिंदुओंका नहीं था उन्होंने उनका तीव्र विरोध किया आसाम वालोंने मुहम्मद खिलजीको मार भगाया और दिल्लीमें ७०० वर्ष राज्य करने पर भी हिन्दुधर्मका कुछ नहीं बिगाड़ सके उसका वेग भारतमें आकर रुक गया और उसपर उलटा हिन्दुधर्म चढ़ बैठा जिसका वर्णन मौलाना हालोने इस प्रकार किया है।

वह दीने हजाज़ीका वेबाक बेड़ा
निशां जिसका अकसाय आलम में पहुंचा
मुज़ाहमहुआ कोई खतरा न जिसका—
न उम्मामें ठिठका न कुलज़ममें झिचका
किये पैस्पर जिसने सातों समन्दर—
वह डूबा दहानेमें गंगाके आकर
वहदीं जिससे तौहीद फैली जहांमें—
हुआ जलवागर हक़ जमी वो जमींमें
रहा शिर्क बाकी न वहमो गुमांमें—
वह बदलगया आके हिन्दोस्तांमें
मु० हा० स०

जिस समय इसलामकी तलवारका मुकाबिला हिन्दु लोग कर रहे थे स्त्रियां सती धर्मको रक्षाके लिए अग्निमें प्रवेश कर रही थीं दूधमुंहे बच्चे गर्भिणी अवलायें कत्ल की जा रही थी आग लगाकर गांवके गांव फूंके जाचुके थे छः २ आनेमें यहांके लड़के लड़कियां गुलाम बनाकर बुगदाद बेच दिये गयेथे। भविष्य में अकबर जैसा कूटनीतिज्ञ और औरंगजेब जैसे अत्याचारी बादशाह होने वाले थे जहां १२३ वर्षके करीब

७-८ खानदानोंने राज्य किया वहां ३३१ वर्ष तक एकही प्रभावशाली मुग़लिया ख़ानदानका राज्य भारत पर होना है। इस समय श्री मुगलिया खानदान के पहले बादशाह बाबरके साथ २ एक महान् आत्मा उत्पन्न हुई। जिसने हिन्दुधर्मकी रक्षा की वे श्री गुरुनानक देव थे।

जिस समयमें श्री गुरुदेव का जन्म हुआ वह समय बहुत ही नाज़ुक था घर बैठे हुए ही ब्राह्मणों की खाल उतारली जाती थी आंखें फुड़वा कर नीबू निचोड़ दिये जाते थे। मन्दिर तोड़े जारहे थे स्त्रियोंको अपने सतीत्वकी चिन्ता थी। भारत-भूमि गौओंके खूनसे सींची जारही थी।

उस समय किसीकी शक्ति थी जो इस अनादि सत्य सनातन धर्मकी रक्षाके लिए अपना हाथ बढ़ा सके। दिल्लीके पास कायन नामक ग्रामका एक जोधन ब्राह्मण बादशाह सिकन्दर लोदीके सामने इस जुर्म में पेश किया गया कि यह इसलामको सच्चाधर्म बताकर हिन्दुधर्मको भी सच्चाधर्म कहता है उलमा ओंने इत्तिफाक़ रायसे फतवा दिया कि यातो जोधन मुसलमान होजाय वर्ना गर्दन मारीजाय ब्राह्मणकुलदीपक जोधनने इसलाम धर्म स्वीकार करनेसे इन्कार किया और मकतूल हुआ ( ता० फरि०, जि०, भ०, २५६ ) इस प्रकारके वातावरणमें भी श्रीगुरु-देवने अधोलिखित बेजोड़ मार्ग ढूंढ निकाला और वैदिकधर्म कीरक्षा करनेमें समर्थ होसके।

आपने मुसलमानी फकीरों की तरह नीले वस्त्र और पश्मीने की टोपी पहरना प्रारम्भ किया कुरान नमाज पढ़ने का आसन वजू करनेके लिए कूंजा अपने पास रखने लगे (जन्म० क०, २०८, वारान् भा० गु० १६ ता० गु० खाल० २६२)

यहां तक कि एक चोला ऐसा पहना करते थे जिसपर कुरानकी आयतें और कलमा वग़ैरा भी लिखे हुए थे जोकि

आजकल डेरा बाबा नानक नामक नगर जिला गुरदासपुर की एक धर्म शालामें घनौर यादगार इन के रखा हुआ है।

मुसलमानी वेष धारण करनेसे इनके बादशाहों द्वारा कतलकराये जानेका डर बहुत कुछ मिट गया उन्होंने धर्म प्रचार का मार्ग भी एक नवीन ही निकाल लिया, हिन्दू और मुसलमानोंका एकसाथ खण्डन करना प्रारम्भ किया मुसलमान अपने को उम्मती खुदाके बन्दे अतएव उच्च समझते थे। हिन्दुओंको काला काफिर चोर बुतपरस्त और नीच मानते थे। बाबा नानकदेवने महात्मा कबीर की तरह मुसलमानों पर हिन्दुस्तान में सबसे प्रबल यही हमला कियाकि जो उनको हिन्दुओंके समान बना कर समालोचनाका मुख्य लक्ष्य बनाया। श्रीनानक देवने इस प्रकार का वेष जान बूझ कर बनाया था, क्योंकि वे जानते थे कि अत्याचारी यवनों में इस प्रकारके वेषके बिना जीवित रहना कठिनहै अब शरीर ही नरहेगा तब धर्म की सेवा किस प्रकार होसकेगी परन्तु प्रश्न करने पर अपने को मुसलमान कहने से साफ इन्कार कर दिया करते थे इसका प्रमाण उनका सबकेमें कहा हुआ प्रसिद्ध शब्द है।

हिन्दु कहां तै मारियां मुसलमान नैं नाहि
पंचतत्व का पूतला नानक मेरा नाम।

नतो मैं हिन्दुहूं जिसे तुम मारो और न मुसलमान हीहूं मैं तो पंच तत्वका पूतला हूं और मेरा नानक नाम है इससे स्पष्ट होजाता है कि उस समय अपने को हिन्दू कहना ही मानो मौत को आह्वान करना था। यह ध्यान रहे कि जहां वे हिन्दु धर्म पर टीका टिप्पणी करते थे वहां शास्त्रानुकूल ही करते थे परन्तु मुसलमानतो हिन्दू धर्मसे बिल्कुल अनभिज्ञही थे। वह उसे

हिन्दुओंका खण्डन समझ बैठने थे वह जमाना तो दूर गया आजकल भी मुसलमानोंके दिमाग इतने नहीं बढे हैं जो हिन्दु धर्म से परिचय प्राप्त करसकें उदाहरणके लिए श्रीनानकदेवके दोचार शब्द लिखे जाते हैं

वेद पढे हरनाम नबूझे माया कारण पढ २ झूझे
( व' धना० म० ५ )

पढ रहे सगले वेद ना चौके मन भेद।

पंडत मैल न चौकिए जेवेदपढे जुगचार(व० सा.८० म०३)

इत्यादि वाक्यों को उद्धृत करके श्री नानक देव को मुसलमानसिद्ध करनेहुए शेख़ मुहम्मद यूसुफ़ एडीटरनूर अपना पुस्तक "बाबा नानक का मज़हब" के पृ० ४पर लिखते हैं कि यहां बाबा नानकने वेदोंका खंडन किया है-परन्तु जो उन्हें थोडा भी ज्ञान होता तो ऐसा नहीं कहते उपर्युक्त शब्दोंका अभिप्राय तो स्वयं वेदोंमें लिखा है।

स्थाणुरयं भारहरः किलाभूत् अधीत्य वेदं नवि जानातियोऽर्थम्( नि०१।१८ )

अर्थात् वह निरा काष्ठ और गधा है जो वेद पढ कर अर्थ नहीं जानता कोरा वेद चारों युग पढाजाय और उस के अनुसार कार्य न करे तो कभी मुक्ति नहीं मिल सकती।

न धर्म शास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः

दुरात्माके सुधारका कारण न वेद पढना है और न धर्म शास्त्र क्योंकि वह उन्हें पढ कर भी स्वार्थ के लिए अनुचित स्थानमें-प्रयोग करता है।

अब एडीटरनूरको विचारना चाहिए कि गुरुदेवकी शिक्षा-

वेदानुकूल है या वेदविरुद्ध चार जुगकी कल्पना जो नानकदेव ने इन शब्दोंमें लिखी है वह हिन्दू मानते हैं या मुसलमान वेदके बाबत तो स्वयं गुरुदेव यह लिखते हैं।

त्रिगुणवाणीवेदाविचार भख्या मैल भख्या व पार

( ग्रंथ म ३)

त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्वरजतमोगुणवाले वेदको विचार और मैलको नष्ट करके पार होजा-इसका अर्थ जनावने किया है ब्रह्मादि तीनों देवोंने वेद पढ़ा पर कुछ हासिल नहीं हुआ धन्य हो त्रिगुण वानी का अर्थ त्रिदेव किया है यह शब्द तो गीताके इस उपदेशके समर्थनार्थक है।

त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। ( गीता २।४५ )

अर्थात् वेदोंसे सत्वरजादिका ज्ञान करके इन गुणोंसे छुटने का उपाय कर-यही क्या श्री गुरुदेवने पद २ पर वेद की महिमा का गान किया है-

वेद पुरान झूंठमत आख्यो झूंठा जो न विचारा (ग्रंथसा)

चारवेद हैंहहि सचयार पढ़हिगुनहिजेचारविचार

भावभगति कर नीचसुदाए तऊ नानकमोखन्तरपाये(ग्रंसा०

वेदपुरान झूंठ नहीं है जिसने विचार नहीं किया वह झूंठा है चारों वेद सच्चे हैं जो विचार कर पढ़े भाव भक्तिसे नम्रता के साथ उनके अनुकूल आचरण करे तो नानक कहते हैं कि मुक्ति मिल जाती है-और देखिये—

आंखें ग्रंथ मुख्य वेद पाठ-एक ओङ्कार वेदनरमे—

अन्धेरा जाय वेद पाठ अथर्ववेद पठंग सकल पाप नठंग

( मास्टर लक्ष्मणकृत बाबा नानक और दीने इसलाम पृ० २ )

सब ग्रंथों में मुख्य वेद पाठ है ऐसा ग्रंथ साहब कहते हैं-एक ईश्वरसे वेद उत्पन्न हुए हैं-वेदपाठसे अन्धेरा नष्ट होता

है अथर्ववेदके पढ़नेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं—

इसके अतिरिक्त बहुतसे ऐसे उपदेश हैं जोकि हिन्दुधर्मके हैं और मुसलमान अज्ञानतासे अभी अपने समझते हैं-

हुकमो आवे हुकमी जावे ( ग्रंथसा ) ईश्वर की आज्ञासे आता है और जाता है अर्थात् कर्मानुसार ईश्वर की प्रेरणासे जीवात्मा आता जाता रहता है इस पुनर्जन्मके उपदेशको भी एडीटरनूरने पुनर्जन्मके खण्डनमें लगाया है—

अव्वल अल्लानूर उपाया कुदरत दे सब बन्दे

एक नूर से सब जगउपजा कौन भलेकौन मन्दे ( ग्रं० सा० )

ईशजीवमें भेद न जानो साधु चोर सब ब्रह्म पिछानो--

सर्व प्रथम ईश्वर का नूर ही था फिर ,मायासे सब मनुष्य बने जब सब मनुष्योंमें एकही आत्मा है तो कौन भला है और कौन बुरा है-ईश्वर और जीव में भेद नहीं है साधु और चोर सबका आत्मा ब्रह्म ही है-इन वचनोंसे आंहजरत एडीटरनूर ने यह बात सिद्ध की है कि असलन पैदायश परहेज़गार और बदकारमें कोई भेद नहीं है परन्तु यह सब उपदेश इन वेद वचनोंके आधार पर हैं और इसलामके खण्डन करने वाले हैं-इन्द्रोमायाभिःपुरुरूपईयते ( ऋग्वेद ३ । ४७ । १४ । ईश्वर अपनी माया ( कुदरत ) से सब रूपों को धारण करके जगत् रूप हो जाता है-सर्व खल्विदंब्रह्म ( छा० ३ । १४ । १ ) यह सारा जगत् ब्रह्म है-जीवो ब्रह्मैवनापरः ( गीतारहस्य २४३ ) जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है-इन वचनोंसे इसलाम के इस अक़ीदे का खण्डन हो जाता है कि खुदा नेस्ती से हस्ती में लाता है अर्थात् प्रकृतिके बिना जगत् रचता है बाबा नानक के शब्दोंसे सिद्ध हो जाता है कि खुदा नेस्तीसे हस्त में नहीं ला सकता है बल्कि ब्रह्म ही जीव है दूसरे इस सिद्धान्त का

भी खण्डन होता है कि मनुष्योंके लिए हैवानात बनाये हैं परन्तु बाबाजीके उपदेश का अभिप्राय है कि सबकी आत्मा एक है किसीको किसी के मारने का हक नहीं है परन्तु हंसी आती है इन मियाओं की बुद्धियों पर जो खण्डन को मण्डन समझते हैं और आश्चर्य होता है गुरुदेवकी बुद्धि पर कि जिन्होंने इनके दिमागों का इतना अध्ययन कर रखा था कि इन लोगों को पागल बना अपने धर्म प्रचार का कार्य कर लिया करते थे। श्रीगुरुदेव सनातनधर्मी थे इसमें कोई सन्देह ही नहीं कर सकता जहां उपर्युक्त वचनों से वेद पर विश्वास और अद्वैत शंकर मत की पुष्टि होती है वहां उन्होंने प्रहलाद कीं कथा भी मानी है और नृसिंहावतार माना है इसके अतिरिक्त एक शब्दमें रामको अपना पूज्य माना है जिसने विभीषणको राज्यदियाथा श्रीकृष्ण केलिए एकशब्द लिखाहैकि

धन्य २ मेंधा रोमावलीं जे कृष्ण ओड़े कामली
धन्यमाता देवकीजेगृहे रमैया कमलापति (अ०नामदेवकी वाणी)

उन भेड़ों को धन्य है जिनके बालों की कामलो कृष्णने ओढी वह माता देवकी धन्य है जिनके घर ईश्वर विचरते हैं क्या इन शब्दोंके रहते कोई कह सकता है कि श्री नानकदेव सनातनधर्मी नहीं थे। समयने बतला दिया कि नानकदेवके शिष्योंने काबुल तक अपना राज्य जा जमाया और इसलामी सलतनतको गारत करदो वीरकेशरी हरिसिंह नलवाके नामसे मुसलमानस्त्रियां हाऊकीतरह अपने बच्चोंको डराकर सुलाया करती थी। हालमें ही हरिद्वार कुम्भपर उदासी साधुओंने एक पुस्तक प्रकाशितकी है जिसमें प्रतिपादन किया है कि सिक्ख धर्म और सनातनधर्म एक ही है श्रीगुरुदेवने कोई नया धर्मका उपदेश नहीं दिया।

औरङ्गजेबके समय में सिक्ख सम्प्रदाय इसलामकी शत्रु समझी जारही थी गुरुगोविन्दसिंह के बच्चे दीवारमें चुन दिये गये और सिक्ख अत्याचारों को शिकार बन रहे थे उनका बदला चुकानेके लिए सनातनधर्मी वीर बंदा बहादुर मैदानमें आया और सिक्ख धर्म या सनातनधर्म को रक्षाके लिए अपने को दिल्ली में धर्म की वेदी पर बलिदान कर दिया इस वीरका नाम सिक्ख इतिहास में सुवर्ण के अक्षरों में लिखा है मर्डोडरनूर के कथनानुसार सिक्ख समाज का प्रवर्तक मुसलमान होनातो न उनपर कोई मुसलमानबादशाह अत्याचार करता और न वे सिक्ख इसलामके विरुद्ध तलवार उठाते और न बन्दा बहादुर एक क्षत्रियवीर और सनातनी होकर सिक्खों का साथ देकर बदला चुकाता और क्या कारण था जो सिक्ख धर्म की रक्षामें हिन्दु धर्म की रक्षा समझता ( भाई परमानन्द कृत "वीर वैरागी" देखो )

उत्तरमें सिक्खोंने दक्षिणमें समर्थ श्रीरामदासके शिष्यवीर केशरी शिवाजीने और राजपूतोंने जो हिन्दुजातिकी रक्षाके लिए स्वार्थ त्याग किया उनके स्मरण मात्रसे रोमाञ्च होता है उन्होंने सब कुछ देश और जातिकी रक्षाके लिये किया पाताल तक पहुंची हुई बादशाहत की जड़को उखाड़ कर फैंक दिया और इसलामकी चमकती हुई तलवार टूट कर गिर गई इन प्रातः स्मरणीय महात्माओंने जो कुछ देशजाति और धर्मकी रक्षाके लिए किया वह कुछ सहृदय पाठकोंसे गुप्त नहीं है। परन्तु हिन्दु जातिके पापोंका परिपाक अभी पूरा नहीं होपाया था और उसका दैव अभी उसी प्रकार प्रतिकूल था।

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।

अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥

विधाता के विरुद्ध होने पर सारे उद्योग विफल होजाते हैं सूर्य के छुपने के समय उसके सहस्रों हाथ रूपी किरण भी अवलम्बन केलिये नहीं होसकती। अभीतक एक विपत्तिसे छुटकारा नहीं पायाथाकि ईसाई मिश्नरियोंकी चढाइयां होनेलगीं।

ईसासे पूर्व भी भारत में अनेक विदेशी जातियां प्रविष्ट होती थीं परन्तु धर्म प्राण ब्राह्मणों द्वारा हिन्दु बनाली जातीथीं मुरुण्ड एक विदेशी जाति भारत में आई थी (भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व अ०३)जैनियोंके पार्श्वाभ्युदय काव्यमें लिखाहै है कि

तीव्रास्त्रारेः सकिल कलहे युद्धशौण्डो मुरुण्डः—

अर्थात् तेजस्वी शत्रु के युद्ध में मुरुण्ड राजा उदयन भी युद्ध कौशल दिखाने लगा इससे सिद्ध है कि उदयन मुरुण्ड जातिका था इसी उदयन राजाको उज्जेन के क्षत्रिय राजा चण्ड प्रद्योतकी लड़की वासवदत्ता और मगधके राजा दर्शककी बहिन पद्मावती ब्याही थी इस से सिद्ध है कि इस मुरुण्ड जाति के उदयन को शुद्ध करके क्षत्रियों में प्रविष्ट कर लिया था भास और सुबन्धु सोमदेव और कालिदासने इसके यशो वर्णन में ग्रंथ लिखे हैं इस प्रकार अनेक उदाहरण भारतके लुप्तशेष इतिहासमें मिलेंगे जिन का वर्णन हम "सनातनधर्म प्रकाश" नामक ग्रंथमें करेंगे कि विधर्मियों की शुद्धि और उन्हें क्षत्रिय वर्णमें प्रविष्ट करना कहां तक धर्म शास्त्रोक्त है।

गत यवन शासन कालमें हिन्दुओंको शुद्धि बन्द करनीपड़ी क्योंकि प्रथम तो शक्ति ही किसकी थी जो शुद्ध करके अपनी जान जोखम में डाले फीरोज़ शाह तुगलक के ज़माने में एक ब्राह्मण ने दिल्ली में एक मुसलमान औरत को शुद्ध करके हिन्दु

बनाली थी इसी अपराध पर उसे जिन्दा जलाया गया तारीख फीरोजशाही पृ० ३७६-३८१ ) जहां अत्याचारी यवनों की तरफसे इस प्रकार धर्मप्रचार में रुकावट थी वहां शुद्धि नहीं करनेका उस समय के हमारे धर्म प्रचारक ब्राह्मणोंका और ही रहस्यथा उन्होंने विचारा कि जो मुसलमानों को शुद्धि करके अपने धर्ममें मिलालिया जायगा तो सम्भव है कि बहुतसे लोग उस समय जबकि इसलाम से इन्कार करने पर कतलका हुकम सुनाया जाताथा और वे हिन्दुजाति के रत्न धर्मत्यागके बदले बलिदान होकर अन्य हिन्दुओं केलिये उदाहरण बनजाते थे * इस ख्यालसे मुसलमान बन जातेकि फिर शुद्ध होजायेंगे परन्तु तब शुद्धिकर लेना हंसीठट्ठे की बातनहीं थी और उनका सदाके लिए मुसलमान रह जाना बहुत कुछ सम्भव था बस यही कारण है कि उस समय के नेताओंने हिन्दुजातिमें यह स्पिरिट भरदी कि जिसके कारण मुसलमान धर्म स्वीकार करने से मर जाना अच्छा समझने लगे और उन्हें केवल यही भयथा कि यदि एक बारभी मुसलमान होगये तो हिन्दुधर्म में मृत्यु नसीब नहीं होगी और यही कारण थाकि जिससे बौद्धों की तरह अधिक संख्या में वैदिक मतावलम्बी मुसलमान नहीं होते थे। समयकी आलौकिक महिमाहै किजो शुद्धिनिषेध हिन्दु-जाति की रक्षा का कारण था वही इस आर्य जातिके ह्रास का कारण बनने लगा महाकवि माघने कहा है कि—

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्
शरदि हंसरवाः परुषीकृत स्वरमयूरमयूरमणीयताम्।

---

* तारीख शाहने मालवा—मुस्तफा अमीर अहमदखां० बी० ए०। तारीख फरिश्ता जिल्द दोयम पृ० ४४७।

समय एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह ही सबको सबल और निर्बल बनाता रहता है शरद ऋतुमें हंसोंके शब्द रमणीय और मयूरोंके भद्दे होजाते हैं।

पादरी लोग इस शुद्धि निषेध से अनुचित लाभ उठाने लगे रात्रिको किसी कूप में झूठाजल डालआते और प्रातः काल जब अनेक मनुष्य उस कुवेका जल पीलेते तब प्रसिद्ध कर देते कि हमने इसमें रोटी या झूठाजल डाला है। बस जिन लोगोंने इस जलको अज्ञान से पीलियाथा वे हिन्दुओं द्वारा कठोरतासे हिन्दु जाति से बाहर धकेल दिये जाकर सदाके लिये ईसाई बना दिये जातेथे इसी प्रकार मूर्खों द्वारा हिन्दुधर्म से बहिष्कृत हुओंको ईसाई बनाकर ईसाई प्रचारक सदा केलिए अपने धर्मप्रचार के मार्ग पर बदनुवा धब्बा लगा लेते थे।

हिन्दुओं को इस मूर्खता से लाभ उठाने में मुसलमान क्यों वञ्चित रहते वे भी हिन्दु स्त्री और लड़कों को व्यभिचार और अनाचार द्वारा हिन्दु जाति से पतित कराकर अपने धर्म की उत्तमता का परिचय देने लगे ये लोग हिन्दुओं से ही मुसलमान हुए थे इस लिए इनका हिन्दुओंसे प्राचीन सम्पर्क जारी रहा और यही कारण है कि इन्हें स्त्री और बच्चे उड़ादेनेके अधिक सुभीते मिलते रहे।

यद्यपि हिन्दुस्तानसे इसलामी राज्य उठगया परन्तु मुसलमानोंकी यह आशा कुछ भी न्यून न हो पाई कि हम हिन्दुओं को हिन्दुस्तान से मिटाकर मुसलमान बनालेंगे क्योंकि जो एक दो मुसलमान होजाते थे वे फिर हिन्दु न होपाते थे और ये लोग फिर साल भरमें एक दो ही मुसलमान थोड़े ही बनाते थे एक ही दिल्ली की जुम्मा मसजिद में प्रतिवर्ष ६००० हजार तक मुसलमान होजाते हैं गणितज्ञ खूब बता सकते हैं कि इस प्रकार

हिन्दु जाति कितने दिनमें नष्टभ्रष्ट हो कर नामशेष होसकती है।

इन धर्मध्वजी हिन्दुओंने एक ओर मौअन्धेर कर रखा था कि अपनेही समाजके अंगभूत अछूतोंका दलनकर रहे थे न तो इन्हें कुवां परही चढने देते थे और न इन्हें पानीही अपने हाथसे भरते थे जिन खेतोंमें पशु पानी पीसकते हैं उनका छूलेना भी इन कम्बख्तों के भाग्यमें नहीं था इन की छायासे दूर भागते थे और इनके सड़क पर चलनेसे उसमार्ग को अपवित्र समझते थे ईसाइयों ने इस छिद्र को देखकर आक्रमण किया और भीषण भाषणों द्वारा अछूतोंको अपनेमें मिला गोभक्षक बनाना प्रारम्भ किया।

बम्बई और गुजरातकी ओर एक आगाखानी मत चला हुआ है इसने २०। २५ लाखके करीब अपने शिष्य बना लिये हैं प्रत्यक्षमें यह अपने को मुसलमान नहीं कहते परन्तु अपने चेलों प्रच्छन्नरीतिसे इसलामी रूह फूंकते हैं कुरान मुहम्मद सा० की भक्तिका प्रचार करके इसलाम धर्म को अथर्व वेद प्रतिपादित बताते हैं मिला जुला कलमा बनाया है कभी अपने चेलोंको मुसलमानी नाम बदल देनेकी आज्ञा देता है तो कभी चोरी करानेकी नौबत आजाती है किसी को रु० उधार देकर अपने धर्म में मिला लिया जाता है तो कभी एक करोड़ रु० मुसलमानी लीडरोंको देनेका वादा करके अछूतों को धर्मच्युत करने की ठानते हैं सारांश यह है कि हर तरह से भोले भाले हिन्दुओंको फंसाया जारहा है।

इसी प्रकार एक थियोसोफिकल सोसायटी है जिसके चलाने वाले दो अंग्रेज हैं इनको भी मूलमें ईसाइयत है और गुपचुप भारत को ईसाई बना देना चाहती है भारत में क्रश्चीन मत से बहुत ग्लानि है और हिन्दू कुरानको गाली समझते हैं

ऐसी दशामें ईसामसीह की भक्तिका प्रचार करने के लिए इन्होंने सिद्धान्त बनाये हैं कि मैत्रेय ऋषि की आत्मा ईसामें थी वही ईसा जन्म लेकर फिर स्वा० रामानुजाचार्यके रूपमें प्रकट हुआ और भारत में भक्ति का प्रचार किया अर्थात् ईसामसीह ही भक्तिमार्ग का आचार्य है इनके यहां प्रत्येक मनुष्य गुणकर्म स्वभाव से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र होता है पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी बड़ी चलाकी की है कि मनुष्यका आत्मा पशु योनि में नहीं जासकता है आजकल एक कोई कृष्णमूर्ति मद्रासकी तरफ विद्यमान है जिस को डा० बीसेन्ट और उनके शिष्य कृष्णकाअवतार तथा जगद्गुरु मानते हैं मुहम्मद सा० ईसामसीह और श्रीकृष्ण उनका दर्जा बराबर है, वेदकुरान इन्जील सब ईश्वरीय पुस्तक हैं केवल हिन्दू इनकी इस बातपर लट्टू हैं कि इन्होंने भूत प्रेतों की सत्ता स्वीकार की है इन्होंका ख्याल है कि हमारी ब्रह्मविद्या प्रचारक इस सोसायटी में प्रविष्ट होने पर भी एक हिन्दु सनातनधर्मी रह सकता है परन्तु मेरीसमझ में नहीं आता कि उपर्युक्त सिद्धान्तों को मान कर भी कोई कैसे सनातनधर्मी रह सकता है।

उसी समय ईसाइयोंकी एक सोसाइटी ने वेद छापकर निकले जिनके ऊपर गधेकी तसवीरथी जिसका अभिप्राय थाकि वेद केवल गधोंके कहे हुए अथवा गधोंके मानने लायक हैं।

श्रीकृष्ण और महादेव को अनाचारी तथा विष्णुको व्यभिचारी लिख २ कर धार्मिक मेलोंपर ट्रैक्ट बांटे जानेलगे काशी और इन्द्रप्रस्थ जैसी नगरी में रामचन्द्र और नीलकण्ठ जैसे पण्डित विज्ञापन प्रकाशित करके ईसाकी शरणागत हुए।

स्वा० शङ्कराचार्यके मठाधीश शिष्य हाथी घोड़ों पर चढने में मस्त थे श्रीसम्प्रदाय के वैष्णवों में सकलपुंगल ( उत्तम

खिचड़ी ) और लौराज के गोले की चर्चा थी गोकुले गुसाइयों को भोगविलाससे अवकाश ही कहां था बहुत सेगिरोपुरी गुसांई और नाथ मद्य और मांसमें लिप्तथे वैरागियोंको इधर उधर घूम कर रोट उड़ाने का चसका पड़ा हुआ था सारांश यह है कि हिन्दु जाति की नौका खेवटकेविना मझधारमें डुबकी लगा रही थी।

यह वह समयथा कि मुगल राज्यका प्रताप सूर्य अस्ताचल चूड़ावलम्बी होरहा था और ब्रिटिश प्रताप का सूर्य उदो-न्मुख था ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जिस कूटनीति से भारत के स्वातन्त्र्य को छीना आगेको उसीकाआश्रय करके विरोधियोंसे धर्मधन छीना जाने वाला है सनातन धर्म पर अब तक कोई ऐसा प्रबल आक्रमण नहीं हुआ सन् १८५७ ई० के विद्रोह में ब्रिटिश राज्य की नींव भी सुदृढ होचुकी और भविष्य में ईसा-इयों की ओर से घोर संकट उपस्थित हैं उसी समय हिमालय की ऊंची चोटी पर खड़े होकर एक सच्चे सन्यासी ने हिन्दु जाति की दुर्दशाका वास्तविक चित्रदेखकर विचारा कि संसार में इस आर्य्य जातिका बुरा हाल है जिसकी नौका भंवरमें फंस गई है किनारा बहुत दूर है और चारों ओरसे आंधी उठ रही है अब तो हरदम यही सूझ पड़ता है कि यह जाति डूबजायगी, शिर पर विपत्तियों के बादल उमड़ते चले आते हैं और दुर्दैव अपना दबदबा दिखा रहा है परन्तु इस नौका के चलाने वाले करवट तक नहीं बदलते और गाढ निद्रा में सोरहे हैं दाएं बायें से यह शब्द सुनाई पड़ रहे हैं कि तुम काल कौन थे और आज क्या होगये, हो अभी जागते थे और अभी सोगये हो यह सब कुछ है परन्तु इस आलसी और प्रमादी जातिका यहीतो प्रमाद है कि अपनी अवनति पर उसी प्रकार अटल संतोष किये

बैठा है धूलि में मिल जाना स्वीकार है परन्तु इससे अपनी निराली चाल नहीं बदली जास कर तो प्रातः काल होचुका है पर यह अभी उसी प्रकार खर्राटे लेरही है इसे न तो अपनी दुर्दशा पर कोई शोक है और न अन्य जातियों की उन्नति से कोई स्पर्धा है पशु और इनकी अवस्था समान है परन्तु यह जिस हालमें है उसीमें मस्त है न किसी प्रकारके अपमान से ग्लानि है और न इसे किसी प्रकार की प्रतिष्ठा की आकांक्षा है, न धर्म से प्रेम है और न अधर्म से भय है केवल ऋषिमुनियों के नामको बदनाम कर रही है।

इस प्रकार धर्म और जाति पर घोर संकट देख यह सन्यासि प्रवर मोक्ष के स्वार्थ को छोड़ कर हिमालय की ऊंची चोटी से नीचे उतरा जिसका पवित्र नाम स्वा० दयानन्द सरस्वती था।

उस उन्नत शिखर पर खड़े होकर उस महान् आत्माने इस आर्य जातिका जो करुणा दृश्य अवलोकन किया उसका वर्णन करने की इस लेखनीमें शक्ति नहीं है यह उस ही महापुरुष की आत्मा को मालूम होगा कि उसने किस भावुकता से इसका अनुभव किया।

देश और जाति की सेवाके लिए स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भारतके नगर २ में आर्य समाज स्थापित किये परन्तु यह तो आगे चल कर हमारी भावी संतान ही निर्णय करेगी कि स्वा० दयानन्द सरस्वती ने हिन्दु जाति की कोई सेवा की या नहीं किन्तु इस में सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसे सिद्धान्त खोज कर चुने है जिससे अहिन्दु-सम्प्रदाय के छक्के छूट गये हैं और उनमें बुरी तरह खलबली पड़गई है जहां हम आगे चल कर पाठकों की सेवा में यह

प्रस्तुत करगे कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के इस सिद्धान्त से अमुक विरोधी का इस प्रकार सरल रीतिसे खण्डन होता है यहां साथ ही यह भी सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि यह मत स्वा० दयानन्दसरस्वती का निज मत नहीं है किन्तु उनका निजमत तो दूसराही है। वेतो उसी आचार्य रीतिका अनुसरण करके इस रङ्गभूमि में आये है जिस पर गौतम बुद्ध नास्तिक के रूप से प्रकट हुए और श्रीगुरुनानक देव मुसलमानी फकीरों का वेष धारण कर धर्म प्रचार कर गए।

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त ईसाई आदि विरोधियों के खण्डन के लिए चुने हैं यह कोई हमारा ही खयाल नहीं है किन्तु अनेक महानुभावों का है जिस में से एक व्यक्ति की राय यहां उद्धृत कर देना उचित प्रतीत होता है।

"आर्य समाजों ने हमारे सहस्त्रों लिखे पढ़े सुज्ञ जनों को ईसाई होने से बचाया है इस लिये हम उस के प्रचारक (दयानन्द) का धन्यवाद करते हैं, स्वामीदयानन्द सरस्वतीने अन्ग्रेजा शिक्षितलोगोंको जो बहुधा विद्वत्ता पातेही क्रिश्चियन व नास्तिक होकर बह जातेथे उन्हें रोका धन्य है उस पुरुष को जिसने अपना सर्वस्व और सांसारिक स्वार्थ छोड़कर अनेक विधि लोगों की निन्दा का निशाना बन अन्ततः इस सत्कार्य में अपना देहतक समर्पण किया और स्वामीजीने ईसाई रूपी बधिकों से हिन्दुजातिरूपी चिड़ियों को बचाया परन्तु इसका धन्यवाद हिन्दु जब होवेंगे जब उन्हें इस जालका ज्ञानप्राप्त होगा-

---

१ नीला बाना पहन कर धखा मुसल्ले शोस - ईशा कूजा पास रख पूरी की हदीस ( जन्म साखी क० पृ० २०७ वाराम भाई गु० पृ० १३, तारी० गु० खालसा पृ० २६२, )

आपलोगों को शायद खयाल हुआहोगा कि यह सम्मति किसी स्वामी भक्तकीहै परन्तुयह सुनकर आश्चर्य होगा कि यह स्वामीजी के भक्तकी नहीं किन्तु परमद्वेषी जैनी जीया लाल ज्योतिषीकी है जिसने "दयानन्द छल कपट दर्पण" नामक पुस्तक के पृ० २८६। २९०। २९१ में यह सम्मति प्रदान की है। दयानन्द छल कपट दर्पण वह पुस्तक है जिसके पृष्ठ २८८ में लिखा है कि अवश्य स्वामी जी ब्राह्मण नहीं थे कापड़ी ही थे और वे कोई सच्चे साधु नहीं थे प्रत्युत वञ्चक थे।

हम पं० जीयालाल जैनी की पिछली सम्मति से सहमत नहीं हैं क्योंकि यह सम्मति उनकी द्वेषपूर्ण है उन्होंने स्वयं अपनी भूमिका मे लिखा है कि हमने इसपुस्तक को इसलिये लिखा है कि स्वामीजी ने जैनधर्म पर झूंठे आक्रमण किये हैं इससे स्पष्ट होजाता है कि जैनधर्म की समालोचना से कुपित होकर ही उन्हों ने मिथ्यादोषारोपण द्वारा स्वामीजी को कलङ्कित करना चाहा है वेस्वयं अपने को निन्दक मानकर अपनी पुस्तक के पृ० २९१ में लिखते हैं चाहे हम स्वा० दयानन्द के निन्दक ही हैं परन्तु हमें उनकी मृत्यु का शोक उनके अनुयायियों से अधिक है।

स्वामीजी के कापड़ी होने में उन्होने कोई प्रमाण ही नहीं दिया सिर्फ एक अप्रमाणिक जन्मपत्री छपी है परन्तु एक ऐसे ज्योतिषी के लिये फ़रजी जन्मपत्री बनालेना कौनबड़ी बात है और यदि जन्मपत्री सत्यभी है तवभी वह मूलशंकर की नहीं किसी हरिभजन के पुत्र शिवभजन कापड़ी की है जो स्वामीजी के गांवसे अन्यग्रामका निवासी है और पृ० ३ में यहभी लिख चुके हैं कि औदीच्य ब्राह्मण ही कापड़ी का कामकिया करते थे इससे उनके लेख द्वारा भी वे ब्राह्मण ही सिद्ध होते हैं और

आपने ही स्वा० जी के यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन किया है।

पं० जीयालालजैनी कितने पक्षपाती थे इसका नमूना पाठकों को और भेट करदेना उचित प्रतीत होता है। मैं एक प्रामाणिक लेख के आधार पर अपनी सम्मति लिखते हैं।

शङ्करजो माँस भक्षियों का पक्षी था उसने मांसभक्षी बौद्धों [illegible] परास्त किया दयाधर्मी जैनियों का परास्त करना शङ्कर जैसे मांसभक्षी से क्योंकर बन पड़ता। (दया० छलकपट द० प्र० २१२) श्री स्वा० शङ्कराचार्य के विषय में इसप्रकार की अनुचित सम्मति से प्रत्येकपर प्रकट होजायगा कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के विषय में भी उनकी दूसरी सम्मति कितनी अन्याय पूर्ण है हमेंतो उनकी प्रथम सम्मति से पाठकों को यह दिखाना अभीष्ट है कि पं० जीयालालजैनी इतने विरोधी होकर यहताड़ गए थे कि स्वामी दयानन्दसरस्वती के सिद्धान्त ईसाइयत को किस प्रकार चकनाचूर करने वाले हैं।

अब सर्व प्रथम पाठकों को यह बताना आवश्यक है कि किसी विरोधी धर्म के खण्डन करने के लिए किसी बनावटी सिद्धान्त की कल्पना करलेना स्वामी दयानन्दसरस्वती के लिए अभिमत था या नहीं तो कहना होगा कि वे इस प्रकार की नीति का अवलम्बन करना न्यायानुकूल और कर्तव्य समझते थे।

(१) आपने लिखा है कि "जो जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्या शङ्कराचार्य का निजमत था तो अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिए स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है" (सत्या० समु० ११ प्र० ३०४)

इस उपर्युक्त लेखपर टीका टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह स्पष्ट सम्मति है इन पंक्तियों

के होते हुए कोई नहीं कह सकता कि स्वामी जी अन्यमत के खण्डन के लिए किसी मिथ्या कल्पना का स्वीकार करलेना दोषपूर्ण मानते थे स्वा० श्रीशङ्कराचार्य ने ऐसा किया था नहीं यहतो अप्राकरणिक वितण्डावाद है परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती के हृदयोद्गार जानने के लिए यह पंक्तियां अत्यन्त महत्वकी हैं।

(२) अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदिने तो जैनियों के मतके खण्डन करने के लिए ही यहमत स्वीकार किया हो क्यों कि देशकाल के अनुकूल अपने पक्षको सिद्ध करने के लिए बहुत से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी करलेते हैं (सत्या० पृ० समु०११ पृ०३१०)

अब विचारना चाहिये कि इस स्थानपर स्वा० शङ्कराचार्य का कोई स्वार्थ था तो जैनबौद्धों का खण्डन ही था तब क्या स्वा० दयानन्द सरस्वती का मुसलमान ईसाई आदि के खण्डन का कम स्वार्थ था और देशकालकी अनुकूलता का ध्यान स्वा० दयानन्द सरस्वती को था या स्वामी शङ्कराचार्य को इसका विवेचन सहृदय पाठक स्वयं करले किन्तु हमेंतो यहा गंध आती है कि देशकाल की अनुकूलता का ज्ञान होनेपर ही आपने अपने सिद्धान्त पद २ पर बदले हैं अतः ये पंक्तियां भी आपकी नीति काही परिचय कररही है कालिदास ने सत्य कहा है। लोकः स्वतो पश्यति (शि० नाट० पृ० ५८) अर्थात् मनुष्य अपने ख्यालसे ही दूसरों को देखता है।

(३) सिक्खों के पचककार युद्धके उपयोगी थे। इसलिए यह रीति गोविंदसिंहजी ने अपनी बुद्धिमत्ता से उस समय के लिये की थी इस समय में उनका रखना कुछ उपयोगी नहीं है (सत्य०प्र० समु० ११ पृ० ३८०) इस लेख से बुद्धिमान् मनुष्य

फौरन ताड़ जायगा कि देशकाल के विचार से किसी बात का धर्ममान लेना स्वा० जी कितना नीतिवज्जन मानते हैं. बात बिल्कुल ठीक है समय के अनुसार नेता किसी बातको स्वीकार करलेते हैं पर उनके अन्ध विश्वासी शिष्य उन्हें धर्म ही मानकर उससमय के निकल जाने परभी लकार के फ़कीर होकर कष्ट उठातेही रहते हैं

( ४ ) जो देश को रोग हुआ है उसकी औषधि तुम्हारे पास नहीं है (सत्या० समु० ११ पृ० ४०० ) ये अक्षर स्वामी जी ने ब्रह्म समाज के खण्डन में लिखे हैं उस सारे प्रकरण के पढ़ने से समझ में आजायगा कि स्वामी जी का यह अभिप्राय है कि तुम्हारे ( ब्रह्म समाज के ) सिद्धान्त ईसाइयों के पृष्ठ पोषक हैं ईसाई मुसलमानों का देशको रोग लगा है इस रोग की औषध तुम्हारे पास नहीं है किन्तु मेरे पास है हमको इस बात मेकोई विप्रतिपत्ति नहीं है हमारा तो स्वयं कथन ही यह है कि स्वामीजी भी अपनी आर्य्य समाज को ईसाई रूपी रोग की औषध मानते हैं परन्तु नीरोग दशाका सत्य पथ्य तो कोई और ही धर्म है।

( ५ ) यदिवाल शास्त्री और विशुद्धानन्द जी मेरे साथी बन जाते तो हम तीनों सारे संसार को विजय करलेते शोक मेरे आत्मगत भावों को जाने बिना उन्हों ने मुझे भिन्न समझा मेरा घोर विरोध किया परन्तु मेरे हृदय में जो मंगल भावना है उसे ईश्वर ही जानता है। ( दया० प्रका पृ० ३३४ )

स्वामीजी के ये अक्षर कितने मर्मस्पृक् हैं कि आन्तरिक तो विशुद्धानन्द सरस्वती और हम एक ही हैं परन्तु वे मेरे हृदय गत अभिप्राय को बिना समझे विरोध कर रहे हैं मतभेद रहने पर कोई किसी का विरोध करे इसका शोक स्वामी जी जैसे व्यक्ति को होना असम्भव है शोक तो इस बात का है कि

विशुद्धानन्द सरस्वती जैसा विद्वान् प्रमत्त की भांति अपने साथी के आन्तरिक मतके समझने में प्रमाद करता है।

( ६ ) एक वार किसी ने स्वामी जी से कहा कि यदि मुसलमानी राज्य होता तो आप ऐसा प्रचार कैसे कर पाते इसके उत्तर में उन्हों ने कहा कि जब मैं इस प्रकार क्यों होता या तो राणा प्रताप होता और या वीर केशरी शिवाजी होता ( आर्यो० पं० रामचन्द्र देहलवी )

इस उत्तर का अभिप्राय भी साफ है कि मुझे कोई आर्य समाज चलाना अभीष्ट नहीं है जिस प्रकार जाति की रक्षा होसके वही मार्ग समय २ पर स्वीकार करना चाहिये उस समय तलवार की आवश्यकता थी राणाप्रताप तथा वीर केशरी शिवाजी की भांति तलवार पकड़ कर सनातन धर्म की सेवा करता है।

( ७ ) एक वार स्वामीजी से दो महात्माओं ने कहा कि महाराज ! आप अधिकारी जनको ही उपदेश दिया करें जोलोग आपके सत्संग में आते हैं वे सब ही अधिकारी नहीं होते आपके खण्डन विषयक व्याख्यानों के तो विरले जनही अधिकारी होते होंगे इसका उत्तर देते हुए स्वामीजी ने कहा कि महात्मा जी ! आपके धर्म बन्धु और जाति के अंग आये दिन शत शत और सहस्र २ की संख्या में ईसाई और मुसलमान होते जाते हैं और आप हमें अधिकार की पट्टी पढाने लगे हैं यह समय तो कार्य करने का है धर्म की नौका को चट्टान के साथ टकराने से बचाने और भंवर से निकालनेका है पहले धर्म के आकाश से विपति के बादलों को दूर कीजिये अधिकारों के विचार तो पीछे होते रहेंगे ( दया० प्र० पृ० ४८० )

यह उद्गार भी साफ है कि पहले ईसाई और मुसलमानों

से अपने को बचावो फिर धर्म चर्चा करना।

इस प्रकार स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य स्वामी जी के अनेक आन्तरिक उद्गार विद्यमान है जिनके पढने से प्रत्येक सहृदय पाठक अनुभव करलेता है कि स्वामीजी ने ये अक्षर जान बूझ कर लिखे हैं जिस से उनको इस अभिलाषा का परिचय मिलता है कि वे अपने प्राचीन साथियों से बहिष्कृत होना पाप समझते हैं।

अब देखना है कि ऊर्ध्व लिखित नीतिके अनुसार स्वामी जी आचरण करते थे या नहीं तो अनेक उदाहरण उनके जीवन में ऐसे मिलते हैं जिस में उन्हों ने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध पक्ष ग्रहण किया है। यह सब जानते हैं कि स्वामी जी को मूर्ति पूजा से शिवरात्रि को ही ग्लानि होचुकी थी जिसे आजकल आर्यसमाज ऋषिबोधोत्सव कह कर मनाती है उनके अनन्तर उन्हों ने स्वा० विरजानन्द सरस्वती से भी वैदिक मतकी कुंजी अथवा पारस पत्थर पालिया तव प्रचार के लिये चले तो आगरे में पं० सुन्दरलाल चेतलाल कालिदास घासीराम आदि की मूर्ति पूजा भी छुड़ा चुके। (द० प्र० पृ० ६७)

इसके दोवर्ष अनन्तर संवत् १६२२ वि० में जयपुर पहुंचे और वहां अपने सिद्धान्त के विरुद्ध शैवधर्म और मूर्तिपूजा का मण्डन करने लगे। जिस का वर्णन स्वामीजी ने अपने पूना के भाषण में इस प्रकार किया है।

"जपुर में मैने वैष्णव मत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ है कि सहस्रों रुद्राक्षकी माला मैंने अपने हाथसे दीं वहां शैव मत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी घड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़गई (स्वक

थि० जीवन पृ० २४ भगवद् दत्तद्वारा सम्पा० )

स्वामीजी ने जब वैष्णवों को पराजित कर लिया तब शैवों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही मारे हर्षके उछल रहेथे इस विजय से प्रभावित होकर लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे कंठियों का स्थान रुद्राक्ष की मालायें लेने लगी राज्य के हाथी घोड़ों के गलेमें भी रुद्राक्ष की मालायें पड़गईं ( दया० प्र० पृ० ७४ )

जब स्वामीजी को प्रथम सेही मूर्तिपूजा से ग्लानि होचुकी थी तो कहना होगा कि अपने सिद्धान्त के विरुद्ध किसी पोलसी केलिये ही स्वामीजी ने जयपुर में शैवमत या मूर्तिपूजा का पक्ष ग्रहण किया इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहो है तब इसही न्याय का उपयोग करते हुए निश्चय रूपसे कौन कह सकता है कि स्वा० दयानन्दसरस्वती के आर्यसामाजिक सिद्धान्त फरज़ी नहीं हैं। स्वा० सत्यानन्द जी ने इसके उत्तर देने की चेष्टा की है, आप लिखते है कि "स्वामी जी के जीवन में शिवरात्रि की घटना के अनन्तर प्रतिमा पूजन के भ.वका लेश मात्रभी शेष न रह गयाथा परन्तु दो सम्प्रदायों केयुद्ध के समय अपने समीपवर्ती शैवसम्प्रदाय का पक्ष लेकर स्वामी जी वैष्णवाचार्यों से भिड़ गए ( दया० प्र० पृ० ७४ )

परन्तु यह बात आपातरमणीय है प्रथम तो अपने सिद्धान्त के विरोधी कितनाही निकटवर्ती क्यों नहो विषमिश्रित अन्न की भांति समालोच्यही है— परन्तु यहां तो बात ही दूसरी है स्वा० दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्त शैवों के निकटवर्ती ही नहीं है प्रत्युत वैष्णवोंके हैं जिसके कुछ उदाहरण देदेना उचित प्रतीत होता है–

( १ ) जीव, ईश्वर, प्रकृति, ये तीनों स्वतन्त्रतासे अनादि

है यह सिद्धान्त आर्यसमाज और श्रीवैष्णवों का एक ही है स्वामीजीने इन को वैष्णवों के समान मानते हुए केवल विशि-ष्टाद्वैत नाम पर आपत्ति की है सिद्धान्त पर नही ( सत्या० प्र० समु० ११ पृ० ३२३ )

( २ ) आर्यसमाज अठारहों पुराण नही मानती श्री वैष्णवों का सिद्धान्त है कि बारह पुराण नहो मानने चाहिये।

नाद्रियेत पुराणादीन् राजसानतामसान्तथा
अनीशानां परेशत्वं वृथा यत्रापवर्ण्यते ( नारदपञ्चरात्र अ० सं० ४ । २२ )

अर्थात्—रजोगुण और तमोगुणके बारहपुराण नही मानने चाहिए क्योंकि उनमें असमर्थों को ईश्वर लिखा है यह वैष्णवों की सर्वमान्यपुस्तकका प्रमाण हैं जिसेवे त्योंकात्यों मानते हैं।

( ३ ) जो श्री वैष्णव सम्प्रदाय के रहस्यों से परिचित हैं वे जानते कि श्राद्धका सम्प्रदाय में क्या महत्व हैं क्योंकि वे तो चक्राङ्कित होने से ही मुक्ति मानते हैं मुक्ति होजाने पर श्राद्ध किसके लिये किया जाय।

( ४ ) अछुतोद्धार का जो निदर्शन श्री सम्प्रदाय में है उतना आर्य समाज में भी कठिन है स्वामीजी स्वयं लिखते हैं कि शठकोप कञ्जर थे मुनिवाहन चाण्डाल थे परकाल चोर डाकू था और यामुनाचार्य यवनथे ( सत्या० स० ११ पृ० ३१२)

परन्तु श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में इन को आलवार तथा आचार्य पदवी प्राप्त होचु की है क्योंकि उनके यहां गुण कर्म का महत्व है जात का नही श्रीस्वा०रामानुजाचार्य तो शूद्रकुलोत्पन्न स्वा० काञ्चीपूर्ण का उच्छिष्ट तक खाने में कोई दो नही मानते थे।

कदाचिल्लक्ष्मणार्थस्तु तद्दुक्तिकण्ठकुसुमया ।
काञ्चीपूर्णो सुवाचेदं वचनं वदतां वरः ॥
( प्रपन्नामृत अ० १० १० । ८ )

( ५. ) एक विष्णु के अतिरिक्त किसी शिवादि देव को मोक्षार्थ पूजना पापसमझते हैं इत्यादि अनेक सिद्धान्त हैं जिस में आर्य और वैष्णवों की समानता है परन्तु कोई भी सिद्धान्त आर्य समाज का शैवों से नहीं मिलता है, तब स्वामी सत्यानन्दजी का उक्त रीतिसे लीपापोती करना कैसे बन पड़ेगा इसी लिये " आर्य धर्मेन्द्र जीवन " के लेखक रामविलास शारदाने इस जयपुर की घटना को छुपाया है इसके अतिरिक्त थियोसोफिकिल सोसायटी के सिद्धान्तोंको न मान करही वर्षों उसके मेम्बर रहे और ब्रह्मसमाजी न होते हुए वर्षों ब्रह्म समाज की बातें बनाईं प्रत्युत बम्बई में व्याख्यान दिया कि ब्रह्म समाज का नाम ही आर्य समाज रखलेना चाहिए ( दयानन्द चरित ) इत्यादि अनेक घटनाओं के होने से मानना पड़ेगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती एक इस प्रकार के सुचतुर पुरुष थे कि भीतरसे किसी बातको न मानकर भी देशकालानुकूल अपने अपने स्वार्थ की सिद्ध केलिये मिथ्या पक्ष ग्रहण कर लिया करते थे ।

विरोधी पक्षके खण्डन केलिए किसी काल्पनिक मतका ग्रहण कर लेने में स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों को तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उनका आप्त और मान्य पुरुष इसमें दोष नहीं मानता परन्तु जो सनातन धर्मी स्वामीजी की बातको ही नहीं मानते उनका खयाल होसकता है कि स्वामी जीने यह अनुचित किया परन्तु मेरी सम्मति में ऐसा कहने वालों को शास्त्र का ज्ञान कुछ भी नहीं है । न्याय दर्शन में १६

पदार्थों के तत्वज्ञान से मुक्ति मानी है और यह सूत्र लिखा है।

प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ( न्या० द० १।१।१

अर्थात् प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रहस्थान इनके तत्वज्ञान से मुक्ति होती है येही सोलह पदार्थ है जिन के द्वारा शास्त्रार्थ करके किसी वस्तु का निर्णय किया जाता है आजकल लोग प्रायः " वाद " को समझते हैं जिस का लक्षण गौतम मुनिने यह किया है।

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ( न्या० द० १।२।१ )

जो प्रमाण और तर्क के साधन का अविरोधी प्रतिज्ञादि पांच अवयवोंसे युक्त हो उसे वाद कहते हैं परन्तु विद्वज्जन केवल वाद कोही स्वीकार करके शास्त्रार्थ नहीं किया करते हैं उपर्युक्त पदार्थों में से देशकालानुकूल जिस की आवश्यकता होती है उसेही स्वीकार करके वादी को परास्त कर दिया करते हैं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सनातनधर्म का पक्ष लेकर आर्य समाज की नींव वाद पर नहीं किन्तु " जल्प " पर रक्खी है जिस का लक्षण है।

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ( न्या० द० १।२।२।)

अर्थात् अर्थ बदल कर उलटे सीधे खण्डन से पक्ष को सिद्ध नहीं करने वाले हेतुओं से भी प्रतिवादी को परास्त कर अपने पक्षको जिससे सिद्ध किया जाय उसे जल्प कहते हैं।

न्याय दर्शन में गौतममुनि का सिद्धान्त है कि विरोधी

नीच प्रकृति दुष्ट और शठ होतो उससे वाद नही करना चाहिए वादका अवलम्बन तो तबही करना चाहिये जब वादी धर्मात्मा हो और जो वादी हठी दुराग्रही अभिमानी और पक्षपाती होतो छल वितण्डा जल्प जिससे बने उससे परास्त करके अपने मत की रक्षा करो।

तत्वाध्यवसायसरंक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसरंक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ( न्या० द० अ० २ अ० ४ सू ५० ) अर्थात् जैसे वृक्षकी रक्षा के लिए कांटों की वाढ लगाते हैं उसी प्रकार तात्विक सिद्धान्त की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग किया जाता है जब शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि धर्म की रक्षा के लिए समय पड़े जल्प भी स्वीकार किया जा सकता है और आजकल से अधिक जल्प का उपयोगी समय आना कठिन है तब प्रातः स्मरणीय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ईसाई मत से सनातन धर्म की विजय के लिये आर्य सिद्धान्तों की वाढ जल्प द्वारा लगादी तो इससे मूर्ख पण्डितों को शोले की तरह भड़क जाने की बातही क्या है। यह केवल स्वामी जी नेही नही किया है लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने भी पाश्चत्य नास्तिक और ईसाई विद्वानों को परास्त करनेके लिए वितण्डा का अवलम्बन किया है यह स्मरण है कि जल्प और वितण्डा का स्वीकार करने वाला भी अपने को जाल्पिक और वैतण्डिक कहाना स्वीकार नही करता क्योंकि ऐसा करने से उनका पक्ष निर्बल हो जाता है।

जिस स्थान पर लोकमान्य ने वितण्डा का आश्रय लिया है उसका दिग्दर्शन भी पाठकों को करादेना उचित है। वितण्डा का लक्षण है। सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा (न्याय्द० १।२।३। जिसमें अपना मत कोई न हो केवल वादी की बात काटनी हो

उसे वितण्डा कहते हैं। लोकमान्य लिखते हैं।

"ऋग्वेद सन् ई० से लगभग ४५०० वर्ष पहले का है यज्ञ याग आदि ब्राह्मण ग्रन्थ सन् ई० से लगभग ३५०० वर्ष पहले के हैं और छान्दोग्य आदि ज्ञानप्रधान उपनिषद सन् ई० से * लगभग २६०० वर्ष पुराने हैं" (गीता रहस्य पृ० ५५२)।

परन्तु सम्पूर्ण गीता रहस्य के पढने वाले पण्डित यह जानते हैं यह कोई लोक मान्य का सिद्धान्त नहीं है यहतो इन्होंने उन धूर्त वादियों के खण्डन के लिए वितण्डा स्वीकार किया है जो पाश्चात्य विद्वान् ईसा से १५०० वर्ष पूर्व ऋग्वेद का काल मानते हैं (गी० र० पृ० ५४६) लोक मान्य का इस विषय में यही कथन है कि जिस प्रकार की युक्ति और प्रमाणों से हम लोगों ने वेद का काल ईसासे १५०० पूर्व का निश्चित किया है यह भ्रम मूलक है वेदोंके उदगयन स्थिति दर्शक वाक्यों

---

* गीता रहस्य की हिन्दी अनुवादित चारों आवृत्तियों में ये अंक अशुद्ध छपे हैं तृतीयावृत्ति में ३५०० के स्थान में २५०० परन्तु चतुर्थावृत्ति में ठीक है प्रायः सब हिन्दी आवृत्तियों में उपनिषद् काल का अङ्क २६०० के स्थान में १६०० छप गया है और पृष्ठ ५५० के चतुर्थावृति में २६०० है और इसी के स्थान में द्वितीयावृत्ति में २५०० हैं परन्तु अङ्कों के विषय में प्रेसकी अशुद्धि को अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा न समझ कर ईशोप निषद्भाष्य के कर्ता स्वा०रामाचार्यजी ने मैत्र्युपनिषद की चरचा करते हुए लोकमान्य तिलक को गाली प्रदान की है (ईशोप निषद्भाष्य पृ० २४)

अङ्क की शुद्धि केलिये ओरायन अथवा महाराष्ट्र गीता रहस्य देखो गीता रहस्य के ५५० पृ० के पढने से भी अङ्क विषयक प्रमाद का ज्ञान हो जाता है।

से ही वेद का उपर्युक्त काल ईसासे ४५०० वर्ष पूर्व का सिद्ध हो जाता है तुम्हारे १५०० वर्ष के हेतुवाद भ्रान्त अतएव त्याज्य है। वेस्वयं लिखते हैं कि "पश्चिमी पण्डितों ने अटकल पच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रंथों के जो काल निश्चित किये हैं वे भ्रम मूलक हैं वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ईसाके पहले ४५०० वर्ष से कम नहीं लो जासक्ती ( गी० र० पृ० ५५० ) अर्थात् अधिक लो जासकती है ॥

गीता रहस्य के पृ १६ १६४ तक जो सृष्टि रचना का काल लिखा है उसका सारांश इस प्रकार है ,, मानवी चार अब्ज बत्तीस करोड़ का जो ब्रह्मदेवका दिन इस समय जारी हुआ है उसका पूरा मध्यान्ह भी नहीं हुआ है अर्थात् सात मन्वन्तर भी नहीं बीते हैं ( गी० र० पृ० १६४ )

आगे चलकर चतुर्थाध्याय के २५ वें श्लोक पर टीका करते हुए लिखते हैं कि इस "यज्ञ में जो सृष्टि के आदि में ऋग्वेद द्वारा हुआ ब्रह्म से ही ब्रह्म का यजन किया गया था। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" ऋग्वेद १० ९० ।१६ ) ( गी० र० पृ० ६८० ) अबवे स्वयं ऐसा लिखते हैं कि सृष्टि को उत्पन्न हुए दो अरब के करीब हो गये और तब वेद थे तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनका यही मत था अर्थात् ऋग्वेद ईसासे ४५०० पूर्व काही है लोकमान्य तिलक गीता में कहे हुए भाग वत धर्म की परम्परा त्रेतायुग से मानते हैं ( गी० र० पृ० ६६६ ) और त्रेतायुग को व्यतीत हुए लाखों वर्ष हो चुके ( गी० र० पृ० १६४ ) तब कैसे कहा जा सकता है कि वेद का काल वे ईसासे ४५०० वर्ष पूर्व ही मानते हैं। उन्हों ने तो स्पष्ट लिख दिया है कि। ब्रह्म अर्थात् वेद परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं गी० र० पृ० ६५५ ) तब क्या परमेश्वर भी ईसासे ४५०० वर्ष पूर्व

से ही है और यदि उनकी अधिक स्पष्ट सम्मति देखनी होतो लीजिये "सम्पूर्ण सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेवरूपी पहला ब्राह्मण वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए"( गी० र० पृ० ८२२ ) अतएव लोक मान्य तिलक का वैदिक ग्रंथों का काल निर्णय कोई अपना मत प्रकट करने के लिये नहीं है किन्तु प्रतिवादी के १८०० सौ वर्ष पूर्व के पक्ष काटने मात्र के लिये वितण्डा संज्ञक वाद है, पाश्चात्य लोग अपनी संकुचित और पक्षपातमयी दृष्टि के कारण वेदों को नवीन सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु लोकमान्य की अकाट्य युक्तियों द्वारा वह छिन्न भिन्न हो जाता है सारांश यही है कि किसी नवीन युक्ति द्वारा प्राचीन वेदके ठीक काल कापता लगा लेना दुःसाध्यही कहना होगा इस वादके ध्यान में नहीं आने के कारण ही लाला लाजपतराय जी ने अपने भारत के इतिहास में तथा अन्यानेभी इसको तिलकका मत बतला कर भूल का है। जब २ अत्याचारियों से मुकाबिला पड़ा है तब आचार्यों ने ही इस सरणिका अवलम्बन नहीं किया प्रत्युत अवतारों ने भी ऐसा किया है, वामन का रूप धारण करके बलिदैत्य का छलन किया गया और रामावतार ने वृक्ष की ओट से बालिवध किया श्रीकृष्ण ने कूटनीति का अवलम्बन करके द्रोण भीष्म जयद्रथ कर्ण दुर्योधन आदि का वध कराया भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण करके वृन्दा का पातिव्रत्य भङ्ककर जलन्धर दैत्य से संसार की स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा की और गौतम बुद्धने वेद और ईश्वरका खण्डन करके धर्म का परित्राण किया,अतएवकहा है कि

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्तिशठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिताः परेषवः

वेमूर्ख नष्ट होजाते हैं जो मायावियोंमें मा याधवी नही होते

दुष्ट मनुष्य ऐसे लोगों को धोखा देकर इस प्रकार मार बैठते हैं जैसे बिना कवच वाले पुरुष को तीक्ष्ण शत्रु के बाण बेध देते हैं इस प्रकार के धर्म शास्त्र को अपवाद शास्त्र कहते हैं जिसका विवेचन लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य के कर्मजिज्ञासा नामक प्रकरण में किया है, अपवादशास्त्र के समय सामान्य शास्त्र का प्रयोग करना निषिद्ध है और यही वेदों का रहस्य है इस विषय को विस्तार भय से यहीं बन्द करके आशा करते हैं कि पाठकों की उस शङ्का का उच्छेद हो गया होगा जो शास्त्र के अज्ञान से स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में उत्पन्न हुई थी पिछले विवेचन से हमारा यही अभिप्राय है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज कोई नवीन स्वतन्त्र धर्म खड़ा नहीं किया है यह तो हिन्दूधर्म की विजय के लिये एक साधन मात्र है परन्तु अन्त में शान्तिदायी तो वही धर्म है जिसे सनातन धर्म कहते हैं और आगे चलकर पाठकों की समझ में आ जायगा कि यही स्वा० दयानन्द सरस्वती का निजमत है।

आजकल सनातन धर्म के नाम से बुरी तरह खिचड़ी पक रही है मृत पुरुष की खोपड़ी में खाने वाला अघोरपन्थ भी सनातनी है और मांस मदिरा मैथुन आदि पाँच मकारों को मानने वाले वाममार्गी भी वैदिक हैं, कृत्रिमलिंग से बाहुमूल को दग्ध करके पञ्च संस्कार करते हैं कोई शिवलिंग के दर्शन से पाप मानता है तो कोई घंटा करण विष्णु के नाम कानों में आने से कानों पुटको अपवित्र समझने लगता है, कोई देवी देवताओं के सन्मुख पशुवध करता है तो कोई खादखिद्दर गाज़ी सालार साहबजी आदि की पूजा करते हैं कोई स्वयं कृष्ण बनकर और अपने शिष्यों की स्त्रियों को समर्पण कराके उसे राधिका बना रमण करते हैं कोई अपने शिष्यों को उच्छिष्ट खाने का

उपदेश करता है तो कोई थियासोफिकिल है कुछ भी हो पर हैं सब सनातन धर्मी। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती इस प्रकार के सनातन धर्मी नहो थे, वे तो जो वैदिक और औपनिषदिक धर्म जिसके पुरस्कर्ता जगद्गुरु भगवान् श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य हैं उस मतके मानने वाले,सत्य सनातन धर्मी थे। वर्तमान सिक चर को सनातन धर्म कहने का रिवाज ५० वर्ष से आर्य समाज के मुकाबिले में पड़ा है इस से पूर्व समस्त सम्प्रदायों को एक मानकर सनातन धर्म कहने का प्रचार ही नहीं था भगवान् बुद्ध या श्रीशङ्कराचार्य अथवा किसी भी आचार्य ने इनसब सम्प्रदायों को मिलाकर सनातन धर्म नहीं कहा किन्तु परस्पर खण्डन किया है स्वा०दयानन्दसरस्वती ने भी सनातन धर्म के नाम से इन सम्प्रदायों का खण्डन कहीं नहो किया है यहांतक कि इतना भी कहीं नहीं लिखा कि ये पन्थाई लोग अवैदिक होकर भी अपने को सनातन धर्मी कहते हैं, सर्व प्रथम भारतधर्ममहा मण्डल की स्थापना के समय भी यहनाम नहीपड़ा था नहो तो श्री भारतधर्ममहामण्डल के बजाय श्री सनातनधर्ममहामण्डल नामहोता जैसा कि आजकल नाम रखे जाते हैं अनुमानतः सब सम्प्रदायों को मिलाकर सनातनधर्म नाम तो आधुनिक धर्म प्रचारकों ने रखाहै परन्तु यह सब से बड़ो भारी भूल की है क्यों कि कपोल कल्पित सम्प्रदायों को साथ लेकर वैदिक सनातन धर्म की ध्वजा ऊंची उठा देने में कितनी कठिनताहै इस बात को वे मर्मज्ञ पण्डित ही जानते हैं जो मन्थरा चलकी भाँति धार्मिक साहित्य समुद्र की गम्भीरता का पता लगाचुके हैं

स्वा० दयानन्द सरस्वती का जन्म शैवमतानुयायी या शङ्कर सम्प्रदायी आदर्श उच्च कुलमें हुआथा और उनपर बाल्यावस्थामें ही शैवधर्मके कितने संस्कार पड़चुके थे यह सब जानते

हैं ब्रह्मचर्य की दीक्षा शङ्कर सम्प्रदायी द्वारा ग्रहण की जो "शुद्ध चैतन्य" नामसे ही प्रकट है संन्यास की दीक्षा भी * पूर्णानन्द सरस्वती से ग्रहण की जो शङ्कर मतावलम्बी थे इसके पश्चात् ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्दगिरिने जो शंकर सम्प्रदाय के अनुयायी थे स्वा० दयानन्द सरस्वती को योग विद्या सिखाई उसको स्वामीजी ने अपनी कृतज्ञता के साथ इस प्रकार वर्णन किया है " अहमदाबाद में उन्हो ने अपनी प्रतिज्ञानुसार मुझे निहाल कर दिया उन महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया समेत पूर्ण योग विद्या भली भांति विदित होगई इस लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं वास्तव में उन्होंने मुझ पर एक महान् उपकार किया इस कारण मैं उनका विशेष रूपसे अनुगृहीत हूं (दया० प्र० पृ० २७)

(स्वकथितजीवन० पृ० १२) इसी प्रकार स्वा० दयानन्द सरस्वती हिमालय परभी श्रीशङ्कराचार्य के शिष्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए मथुरा में स्वा० विरजानन्द सरस्वती के निकट पहुंचे जो कि श्री स्वामी० शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों के प्रधान प्रचारक थे और ये वेही महात्मा है जिनके स्वामी जी आजन्म आभारी रहे।

इस प्रकार शैशकाल से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त शङ्कर सम्प्रदाय के सत्सङ्ग और अध्ययन से श्रीस्वा० शङ्कराचार्य प्रतिपादित सिद्धान्तों में श्रीस्वा० दयानन्द सरस्वती की गाढ निष्ठा होगई जिसका वर्णन उन्होंने अपने अक्षरों में इस प्रकार किया है—

"चैतन्य मठ में ब्रह्मचारियों और सन्यासियों से वेदान्त

---

* स्वा० विरजानन्द के भी गुरु स्वा० पूर्णानन्द सरस्वती थे परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि ये वेही महात्मा थे।

विषय पर बहुत बातें की मुझ को ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्द आदिक ब्रह्मचारियों और संन्यासियों ने करा दिया कि ब्रह्म हमसे कुछ भिन्न नहीं है मैं ब्रह्म हूं अर्थात् जीव और ब्रह्म एक है यद्यपि प्रथम ही वेदान्त शास्त्र के पढते समय मुझको कुछ इस बात का विचार होगया था परन्तु अब तारो में इसे भले प्रकार समझ गया ( स्वकथित जीवन चरित पृ० १० )

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ईसाई मुसलमानों के खण्डन केलिये अपने सिद्धान्त यद्यपि भिन्न चुनलिये परन्तु ऐसा करने से उनकी शङ्कर सम्प्रदाय और अपने आचार्य ( शङ्कर ) में जो भक्ति थी वह कुछ भी न्यून नहो पाई और न उन्होंने इस भक्ति श्रद्धा का छुपाना ही उचित समझा मनुष्य जिस आचार्य के बताये मार्ग पर चल कर इस कंटकाकीर्ण संसार से छुटकारा पाता है और स्थिर सुखशान्ति लाभ करता है क्या उसके प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पण के समय मुंह मोड़ बैठना मनुष्यता है, किन्तु कहना पड़ेगा कि उस मनुष्य को कुछ लाभ ही नहीं हुआ अन्यथा यह असम्भव है कि मनुष्य होकर इस दशा में भी अकृतज्ञता प्रकट करे कोई नरपशु होगा जो सब कुछ मिल जाने पर भी कृतघ्नबनारहे कृतघ्न रह कर संसारमें चाहे कोई कुछ स्वार्थ सिद्ध भी करले परन्तु परलोककेलिये तो यह असम्भव ही है कि कृतघ्न बनकर शान्ति लाभ करसके ( सत्या० पृ० २०४ सन् १८७५ )

जिन स्वा० दयानन्द सरस्वती ने कुलीन और स्पृहणीय दर्शन भाविनी वधूका परित्याग करके वनकी राहली हिमालय की गुफा २ और चट्टान २ पर भ्रमण किया जो वर्फ के नुकीले टुकड़ोंसे पैरोंको रुधिराप्लुत होजाने से मूर्छित होगये सिंह व्याघ्र भालुओं से भयङ्कर वनमें निर्भय घूम कर कांटों से

वस्त्र और शरीर छिदजाने परभी नही थके अनेक महात्माओं से योगविद्या सीखने केलिये लालायित होकर अहर्निश इधर उधर भटकते रहे अप्सराओंके समान मनोरमा स्त्रियोंके आयत कटाक्ष जालोंसे बुद्ध की भांति दूरहो रहे जिन्हों ने माता पिताके मोह और प्यारी भगिनी की मृत्यु के समय भी जो अश्रु नहीं निकाले वे देशकी दुर्दशा पर नदी की भांति बहा दिये क्या वह महान् आत्मा इस प्रकार कृतघ्नता की कीच में मस्तहाथी की तरह फंसकर अपने उस अमृतत्व का नाश कर सकती है जिसके लिये यह सब कुछ कियाथा वे और कोई होंगे जो साधारणसी लोकैषणा में निमग्न होकर अपने परलोक के मार्ग को कण्टका कीर्ण कर लेते हैं स्वा० दयानन्दसरस्वती तो एक प्रकार से पुकार कर कह रहे है कि—

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां, येषां प्रचण्ड मुसलैरवदाततैव। स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति, ये स्वल्पपीडन वशान्न वयं तिलास्ते।

अर्थात् हमतो चांवल है कितना ही प्रचण्ड मुसलोंसे कूटो परन्तु अवदात सफेद ही रहेंगे स्नेह ( प्रेमया तेल ) को छोड़ कर थोड़े से दवाने परही एक दम खल ( दुष्ट या पशु भोज्य ) होजाने वाले तिल दूसरे है, वह धीरही क्या है जो साधारण सी ऐश्वर्यप्राप्ति पर मुग्ध होजाय कितने हा सांसारिक प्रतिष्ठा की आंधी के हिलोरे लगे परन्तु हम कृतघ्न होकर अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होगे वे तिलो की भांति दूसरे मनुष्य है जो लौकिक सम्पत्ति प्राप्त होने पर अपना नाश कर बैठते हैं। यही स्थान (मुकाम) एक प्रकार से अग्नि अथवा कसौटी है जिस पर तपाने या कसनेसे स्वा० दयानन्द सरस्वती के दिव्य कुन्दन होनेका परिचय मिलता है नहीं तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि

एक समाज के गुरु होकर भी श्रीस्वा०शंकराचार्य के सच्चे शिष्य कहलाने अपने को धन्य समझते और मृत्युके समय तक श्री स्वा० शंकराचार्य की शिष्यता का एक मात्र चिन्ह सरस्वती पदवी को धारण किये रहते।

यह सब जानते हैं कि स्वा० शंकराचार्यने ही सनातनधर्म के प्रचारके लिये चारों दिशाओंमें चार मठों की स्थापना की है और इन मठोंके शिष्यों को निज२ रूपसे पहिचाननेके लिये तीर्थ आश्रम वन अरण्य पर्वत सागर गिरि सरस्वती भारती और पुरी ये दश नाम रखे जाते हैं जो शंकर सम्प्रदायके ग्रन्थ मठाम्नाय सेतु से प्रकट हैं दक्षिणके शृंगेरी मठके शिष्योंके नाम सरस्वती भारती और पुरी होते हैं स्वा०शंकराचार्यसे पूर्व किसी भी सन्यासियोंके नामके साथ इन दश नामोंका प्रयोग नहीं है शृंगेरी मठके शिष्य स्वा० पूर्णानन्द सरस्वतीने ही अपने सम्प्रदायके अनुसार "शुद्धचैतन्य" ब्रह्मचारी का नाम दयानन्द सरस्वती रखा था और केवल यह "सरस्वती" पद ही स्वामीजीके लिये सनातन धर्मी सूचित करनेके लिये पर्याप्त है आर्य समाज चाहे सौमन साबुन लेकर धूने धोवे परन्तु यह पदकी छाप धुल नहीं सकती

बहुत मनुष्योंका विचार हुआ होगा कि स्वा० दयानन्द सरस्वती ने "सरस्वती" पद वेदविरुद्ध है इसपर कोई विचार ही नहीं किया नहीतो कोई कारण नहीं था कि वे इस नवीन कल्पना को अपने नामके साथ जोड़े रखते परन्तु ऐसा कहने वालों ने स्वा० दयानन्द सरस्वती का ठीक अध्ययन नहीं किया और शोक है कि वे ऐसी २ छोटी बातों में भी स्वामी जी को अल्पज्ञ ही समझते हैं स्वामी दयानन्द ने तो अनेक गवेषणा पूर्ण बातें लिखी हैं परन्तु आर्यसमाजी अड़ियल होते हैं इस

लिये आवश्यक है कि हम स्वा० दयानन्दसरस्वती के लेख से ही यह दिखावें कि उन्हों ने सरस्वती पद पर विचार किया है और इसे नवीन माना है; स्वामीजी लिखते हैं

दशनाम लोगों ने पीछे से कल्पित करलिये हैं जैसे किसी कानाम देवदत्त होय इसके अन्त में दश प्रकार केशब्द लगाते हैं देवदत्ताश्रम देवदत्ततीर्थ देवदत्तानन्द सरस्वती और इसी का दूसरा भेद देवदत्तेन्द्र सरस्वती आदि, जैगीषव्य, आसुरि, पञ्च और वोध्य, ऐसे २ नाम सन्यासियों के महाभारत में लिखेहैं इस से जाना जाता है कि यह पीछे से मिथ्या कल्पना दण्डी लोगों ने करलिया है परन्तु दण्डीलोग सनातन सन्यासाश्रमी हैं। ( सत्य० पृ० समु११ पृ० ३४८ सन १८७५ )

इस लेखके देखने से प्रतीत होजाता है कि स्वामीजी दण्डी सन्यासियों को सनातन सन्यासाश्रमी मानते हैं और सरस्वती पदवीको नवीन जानकरभी अपनी सम्प्रदाय काचिन्ह समझ कर धारण करना धर्म समझते हैं।

बहुत कुछ सम्भव है कि बेसमझ आर्यसमाजी यह कह बैठे कि यह तो पहली सत्यार्थ प्रकाश कालेख है इसे हमनही मानते पहली सत्यार्थ प्रकाश के छपने के समय लोगों ने उसमें बदमाशी से मिलावट करदी है। परन्तु ऐसा कहना स्वा० दयानन्द सरस्वती के अभिप्राय को कुचलना है यह हम मानते हैं कि स्वामीजी ने पहली सत्यार्थप्रकाश को अप्रमाणित करदिया था परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि ऐसा इसलिये किया कि उसमें दूसरों ने क्षेपक मिलादिये थे उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि मेरी सत्यार्थ प्रकाश में लोगों ने मिलावट करदी है इससे मैं दूसरी लिखता हूं किन्तु यहलिखा है कि "जिस समय मैंने यहग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश बनाया था उससे और उससे पूर्व संस्कृत

भाषण करने पठनपाठन में संस्कृत हीबोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इसभाषा का विशेष परिज्ञान न था इससे भाषा अशुद्ध बनगई थी अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास होगया है इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरीवार छपवाया है कहीं २ शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था क्योंकि इस के बिना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी परन्तु अर्थ भेद नहीं कियागया है प्रत्युत विशेष तो लिखागया है हां जो प्रथम छपने में कहीं २ भूलरही थीं वह निकाल कर ठीक२ करदी गई है" (सत्या० समु० १) कहिये इसमें कहींभी नहीं लिखा कि दूसरोंने बदमाशी से मिलावट करदी है इसमें तो केवल यही दो कारण हैं कि भाषा अशुद्ध रहगई थी और प्रेस की अशुद्धियां थीं बहुतसी प्रेसकी अशुद्धियों के मायने मिलावट नहीं है अशुद्धियां तो प्रायः ग्रंथों में हुआही करती इससे मानना पड़ेगा कि जिस समय स्वामीजी ने पहली सत्यार्थ प्रकाश लिखी थी उस समय उनके विचार वैसेही थे परन्तु बादमें उन्होंने किसी विशेष ( खास ) कारण से बदले हैं, मेरे ख्याल में ऐसे लोग स्वामीजी को बुद्धू समझते हैं नहींतो देश सुधार के इतने बड़े काम को हाथमें लेकर उसका एकमात्र साधन सत्यार्थ प्रकाश में कोई कुछही मिलादें और उन्हें भोंदू की तरह पता भी न लगे यह असम्भव है।

यहांपर उस विज्ञापन की चर्चा करदेना उचित है जो स्वामीजी ने प्रथम सत्यार्थ प्रकाश छपने के तीनवर्ष बाद यजुर्वेद भाष्य पर छपा है उसमें लिखा है कि, "जोर मेरे बनाये सत्यार्थ प्रकाश वा संस्कार विधि आदि ग्रंथों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तक के वचन बहुत से लिखे हैं वे उन ग्रंथों के मतों

के जानने के लिये लिखे हैं उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध को अप्रमाण मानता हूं" यहां भी उन्हों ने स्वीकार करलिया है कि मनुस्मृति आदि के श्लोक जो मैंने लिखदिये हैं वे वेदानुकूल हों तो प्रमाण मानता अन्यथा नहीं। और जो मृतक श्राद्ध छपगया है वह लिखने और शोधने वालों की भूल से छपगया है" यह वे पंक्तियां हैं जिन्हों ने लोगों को धोके में डालरक्खा है परन्तु जब स्वामी जी ने दूसरी वार की सत्यार्थप्रकाश की भूमिका लिखी उसमें पीछे लिखे दो कारणों के अतिरिक्त यह कारण नहीं लिखा इससे मालूम होता है कि यहां विज्ञापन में "वालों" शब्द प्रेस की अशुद्धि से छपगया है इसके निकाल देने से सीधी भाषा हो जाती है कि मृतकश्राद्ध लिखने और शोधने की भूलसे छपगया है इससे भूमिका के पाठ और इस पाठकी संगति लगजाती है और स्वामी जी मिथ्या भाषण के कलङ्क से छूट जाते हैं और यदि "वालों" पद स्वामी जी काही है तो इसका अन्वयलिखने पदके साथनहीं हो सकता तब इस भाषा का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि मृतकश्राद्ध ( मेरे ) लिखने ( की ) और शोधने वालों की भूलसे छपा है क्योंकि इससे स्वामीजी का भूमिका विषयक पाठ से संगति लग जाती है और स्वामी जी ऐसी भाषा लिखा भी करते थे पहली सत्यार्थ प्रकाश में कोई मिलावट नहीं हुई और उसमें सरस्वती पदके नवीन विषयक लेख भी स्वामी जी ही का है बहुत कुछ सम्भव है कि प्रथम सत्यार्थ प्रकाशकी स्वामीजी की हस्त लिखित प्रति आर्य प्रति निधि सभाके पास भी हो जिसका संशोधन करके दूसरी सत्यार्थ प्रकाश लिखी गई है खैर कुछ भी हो हमेंबालकी खाल निकालने की आवश्यकता नहीं है यदि सरस्वती पदके नवीन

होने का लेख किसी धूर्तने मिलाभी दिया तो स्वामीजी के मृतक श्राद्ध की भांति दृष्टि गोचर हुआ होगा और इसके नवीन होने का ज्ञान जब प्रतिन पाठपे हो चुका तो आवश्यक था कि इस वेद विरोधी "सरस्वती" पदवी को उतार कर फेंकदेते परन्तु ऐसा स्वामीजी को अभिमत नहींथा।

स्वामीजीने तो शाहपुरेमें एक मनुष्य को शिष्य किया शङ्कर सम्प्रदायके अनुसार उसको दण्ड धारण कराया और उसका नाम "ईश्वरानन्द सरस्वती" रखा दुर्जन तोषन्यायसे यह मान भी लें कि स्वामीजीके नामके साथ अन्य किसी कारणसे "सरस्वती" पद लगा भी रह गया तो इसका कारण बताते नहीं बनता कि स्वामीजीने अपने शिष्य का नाम सरस्वती क्यों रक्खा स्वा० ईश्वरानन्द सरस्वती भी अपने को सरस्वती लिखा करते थे यह उसके पत्रों से स्पष्ट है और वे पत्र मुन्शीरामजी संगृहीत "ऋषिदयानन्द के पत्र व्यवहार" नामक पुस्तक के पृ० ३—१६ में विद्यमान हैं इसके सिवाय आत्मानन्द सरस्वती सहजानन्द सरस्वती दर्शनानन्द सरस्वती नित्यानन्द सरस्वती आदि अनेक सरस्वती होगये और होते जा रहे हैं परन्तु अब लक्षण दिखाई देरहे हैं कि स्वा० दयानन्द सरस्वती की अभिलाषा के विरुद्ध यह प्रवाह आगे को रुक जायगा।

हम अभी पाठकों का पीछा नहीं छोड़ेंगेऔर नवीन सत्यार्थ प्रकाशमें भी दिखावेंगे कि स्वामीजीने "सरस्वती" पद पर विचार कर लिया है आर्यसमाजियों का दुराग्रह प्रसिद्ध है इस लिये चाहे उनको कितना ही युक्तियुक्त समझा दिया जाय परन्तु जब तक नवीन सत्यार्थ प्रकाशमें कोइ बात नहीं दिखाइ जायगी तब तक सब व्यर्थ है स्वामीजी लिखते हैं (प्रश्न) गिरी

पुरी भारती आदि गुसांइ लोग तो अच्छे हैं (उत्तर) ये सब दश नाम पीछेसे कल्पित किये हैं सनातन नहीं (सत्या० समु० ११पृ४१०) अब विस्तार भयसे अधिक न लिखकर पाठकोंसे आशा करते हैं कि वे हमारे अभिप्राय को थाड़े लिखनेसे ही बहुत समझगये होंगे कि स्वा० दयानन्द सरस्वतीने 'सरस्वती' पदवी को प्रेमसे चिपका रखाथा।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारा यह लिखना उन स्वामिभक्तों के खटके विना न रहेगा जो उन्हे भगवान् और महर्षि मानते हैं और कोइ कोइ दिल चला आर्य समाजी तो उन्हे श्रीकृष्णसे भी बढ़कर समझता है परन्तु हमारा इस पुस्तकके लिखने का अभिप्राय आर्यसमाजियों का मनोरंजन करना नहीं है हमें तो उस सचाइ को सामने रखना है जो स्वामी दयानन्दसरस्वती को अभिलषित है स्वामीसत्यानन्दजीने अपनी पुस्तक दयानन्द प्रकाशमें उन्हें भगवान् लिखा है और इसीतरह अनेक आर्यसमाजी लिखते रहते हैं परन्तु क्या स्वा०दयानन्दसरस्वती अपने को भगवान् कहलाना चाहते थे उनके ग्रंथोंके देखनेसे तो यही विदित होता है कि वे भगवान् पद को परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त किसीके साथ देखना नहीं चाहते, वे लिखते हैं कि-

"कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहत्वाज्जन्ममरणादि युक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः"(वेदविरुद्धम० स० शु०७१६) श्रीकृष्ण कृष्णगुणविशिष्ट देह वाले तथा जन्म मरण युक्त होने से भगवान् नहीं हो सकते आगे चलकर फिर लिखा है कि-

प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जाते ईषन्न्यूनानि पंच सहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि (वे०वि० म० शता० पृ० ८०१)

हमने पहलेसे ही बारबार कह दिया कि कृष्ण भगवान् ही

नहीं होसकते क्योंकि उनको मेरे पांच हजार वर्षके लगभग हो चुके तो क्या स्वा० दयानन्द सरस्वती जन्म मरणरहित हैं या उन्हें मरे हुए बहुत वर्ष नहीं होचुके हैं और उनके पांच भौतिक देह नहीं थी फिर भी उनको भगवान् लिखना स्वामी जी के लेखके विरुद्ध नहीं तो और क्या है हमें तो इस समय स्वामीजी के ये अक्षर याद आते हैं कि—

'अविद्वानोंमें यह चाल है कि मरे पीछे उनको सिद्ध बना लेते हैं पश्चात् बहुतसा माहात्म्य करके ईश्वरके समान मानलेते हैं परन्तु इसमें उनके चेलोंका दोष है (सत्या० समु० ११ पृ० ३७६) स्वामीजी अपने नामके साथ महर्षि पद भी लगाना उचित नहीं मानते थे, स्वा० श्रद्धानन्दजी अपने व्याख्यानोंमें कहा करते थे कि स्वामीजी महर्षि पद भगवान के लिये ही माना करते थे। आज कल महर्षिपद के दो अर्थ होते हैं एक तो प्राचीन—

ऋषिदर्शनात् स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः ( निरुक्त २।११ ) मन्त्र : स्तोत्र-स्तावयो ज्ञानेनपश्यतोत्यं भगद्वर्गाचार्य कृतटीका पृ० १३२) अर्थात् ऋषि उसको कहते हैं जो मन्त्र द्रष्टा हो और ऐसा ही लिखा स्वामीजीने गोता है।

"ऋषयो मन्त्रदृष्टयः मन्त्रा न् सम्प्रादुः" जिस २ मन्त्रार्थका दर्शन जिस २ ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इस लिये अद्यावधि उस मन्त्रके साथ उसे ऋषिका नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है जो कोई ऋषियोंको मन्त्र कर्ता बतलावे उनको मिथ्यावादी समझें वे मंत्रोंके अर्थोंके प्रकाशक हैं ( सत्या० समु० ७ पृ० २१४ ) तब क्या स्वामीजीने बिना किसी से पढ़े सबसे प्रथम मन्त्रों का अर्थ देखा है और उनका नाम भी क्या किसी मन्त्र के साथ उच्चारण करना चाहिए कि ऐसा

नहीं है तो प्राचीन अर्थ को ग्रहण करके " महर्षि " पद उनके नाम के साथ उनके सिद्धांत के विरुद्ध लगाना कैसे उचित हो सकता है उन्होंने एक मनुष्य के यह कहने पर कि आपतो ऋषि हैं स्पष्ट कह दिया था कि "ऋषियों के अभावमें आप लोग मुझे ऋषि कह रहे है, परन्तु सत्य जानिए यदि मैं कणाद ऋषि का समकालीन होता तो विद्वानों में भी अति कठिनता से गिना जाता" (दया० प्र० ४०१) जब प्राचीन ऋषि शब्द का इस प्रकार निर्णय हो जाता है तब दुबारा कहना पड़ता है, कि स्वामीजी केलिये महर्षि शब्द का प्रयोग करना स्वामीजी तथा शास्त्रों के प्रतिकूल है 'पोप' शब्दका प्राचीन अर्थ विदेशी है भाषामें धर्माचार्य है उसको बदल कर दम्भी पाखण्डी अर्थ में नवीन संकेत द्वारा जिस प्रकार ग्रहण किया है उसी तरह यदि महर्षि शब्द का भी कोई नया संकेत नियत करके स्वामीजी को महर्षि कहा जारहा है तो इसमें हमारा कोई मत भेद नहीं हैं।

इस पिछले विवेचन से जब यह सिद्ध हो जाता है कि स्वामीजी अपने को शंकर सम्प्रदाय से पृथक् करना नहीं चाहते थे तो अब आगे चलकर इस पर विचार करना है कि क्या स्वामीजी ने अन्यमत प्रवर्तकों की कड़ी समालोचना की तरह श्रीस्वा०शंकराचार्य कोभी लथेड़ा है और यदि ऐसा नहीं किया तो इसका कारण सिवाय इसके और कुछ बनाते नहीं बनपड़ता कि श्री स्वाँ० दयानन्द सरस्वती को श्री स्वामी० शंकराचार्य में पूज्य दृष्टिथी और पूज्यों के अवज्ञान करके अपने प्रारम्भ किये कार्य का पूरा करलेना कठिन है, कवि कालीदासने कहा है।

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः
रघुवंश सर्ग १। ७९।

वशिष्ट मुनि राजा दलीपसे कहते हैं कि तेरा मनोरथ पूज्य के अपमान करने से रुका हुआ, है क्योंकि उसके सारे कल्याण रुक जाते हैं जो पूज्यों की पूजा का उल्लंघन करता है यही कारण है कि स्वामीजी के ग्रंथों में बहुत कुछ टटोलने पर भी हमें श्री स्वामी शंकराचार्य के प्रति अश्रद्धा की रेखा दिखाई नहीं पड़ती है अब हम अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों के प्रति स्वामीजी के भाव प्रगट करके दिखायेंगे कि स्वामीजी के श्रीशंकराचार्य के प्रति क्या भाव हैं वैष्णवाचार्यों के प्रति स्वामीजीने अपने क्या भाव प्रगट किये हैं यह ही सब प्रथम पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है।

"चक्राङ्कित अपने को बड़े वैष्णव मानते हैं परन्तु अपनी परम्परा और कुकर्म की ओर ध्यान नहीं देते प्रथम उनका मूल पुरुष शठकोप हुआ जो कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था उसका चेला मुनिवाहन जो कि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ उसका चेला यावनाचार्य जो कि यवनकुलोत्पन्न था, उनके पश्चात् रामानुज ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर चक्राङ्कित हुआ और जिसने शङ्कराचार्य की बहुतसी निन्दा की ( सत्या० समु० ११ पृ० ३२२ ) एक परिकाल नामक वैष्णव भक्त था वह चोरी डाका मार छल कर पराया धन हर वैष्णवों के पास धर प्रसन्न होताथा अबतक उस डाकू चोर परिकालकी मूर्ति मन्दिरों में रखते हैं यद्यपि मतमतान्तरों में कोई थोड़ा अच्छा भी होता है तथापि इस मत में रह कर सर्वथा अच्छा नहीं हो सकता ( सत्या० समु० ११ पृ० ३७३ )

उपर्युक्त लेखमें सूक्ष्म दृष्टिसे यह देखना चाहिए कि वैष्णवाचार्यों का बड़ी आलोचना के अतिरिक्त उनका अनादर सूचक एक वचन द्वारा ही निर्देश किया है स्वामीजीसे इतना भी नहीं

होसका कि बहुवचन तारानो पेश आते। और ऐसाही अनादर सूचक अधोलिखित धर्म प्रचारकों के साथ व्यवहार किया है।

'वल्लभ मत तैलंग देश से चला है एक तैलंगी लक्ष्मण भट्ट नामक ब्राह्मणने विवाह करके काशीमें जाके सन्यास लिया और झूंठा बोला कि मेरा ब्याह नहीं हुआ उसको स्त्री आई और वह फिर गृहस्थी होगया, इसके पुत्रनेभी ऐसी ही लीलाकी और सन्यास लेकर भी एक जाति वहिष्कृत ब्राह्मणकी कन्या से ब्याह किया, फिर अविद्या के केन्द्र ब्रज देश में अपना मत चलाया। ( सत्या० स० ११ । ३८४ )

रामस्नेही मतका चलाने वाला रामचरण यह ग्रामीण एक सीदा साधा मनुष्य था न वह कुछ पढाथा नहीं तो ऐसी गपड़ चौथ क्यों लिखता, नाम तो रखा राम सनेही और काम करत हैं रॉडसनेहोंका ( सत्या० समु० ११।पृ० ३८२ )

कबीर साहब की बाबत उनके मतवालों का विश्वास है कि वे फूलोंसे उत्पन्न हुयथे स्वामीजी लिखते हैं कि " क्या कबीर साहब भुनगाथा या कलियां थी जो फूलों से उत्पन्न हुआ जब वह बड़ा हुआ जुलाहेका काम करताथा किसी पण्डतके पास संस्कृत पढने केलिये गया उसने उसका अपमान किया तब उटपटांग भाषा बना कर जुलाहे आदि नीचलोगों को समझाने लगा तम्बूरे लेकर गाताथा भजन बनाताथा।(स० स० ११ पृ० ३७१)

"एक सहजानन्द नामक अयोध्या के समीप एक गांव का जन्मा हुआ था उसने चतुर्भुज मूर्ति के बनावटी दर्शन कराके दादा खाचर को धोखे से चेला बनाया किसी की नाड़ी मलके मूर्च्छित करके समाधि बताकर धूर्तताने गुजरात में और भी चेले किये ये सब स्वामी नारायण आदि मत चिन्ह रहित हैं ( स० समु० ११ पृ० ३८६ )

रामानुजकृतस्य शारीरिकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारा द्विवेकस्सहजानन्दोऽस्त्येवेति विज्ञायते ( शिक्षापत्री ध्वान्त निवारण शता० पृ० २२८ )

शारीरिक सूत्रका रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्यका प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था यह सिद्ध होता है ( शि० शताब्दी सं० पृ० ८३७ )

दादूजी आमेर में तेलीका काम करते थे ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादूजी को पूजने लगे जब सत्योपदेश नहीं होता तब ऐसे २ ही बखेड़े चला करते हैं (सत्या० समु० ११ पृ० ३८० )

नानकजी वेदादि शास्त्र कुछ भी नहीं जानते थे जो जानते होते तो निर्भय शब्दको "निर्भो" क्यों लिखते और इसका दृष्टान्त उनका बनाया संस्कृती स्तोत्र है चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी पग अड़ाऊं परन्तु बिना पढ़े संस्कृत कैसे आसकता है उनमें जपकुछ अभिमान था तो मानप्रतिष्ठा केलिये दम्भभी किया होगा क्योंकिजो ऐसा न करते तो वेद का अर्थ पूछने पर प्रतिष्ठा नष्ट होती इससे कहीं २ वेदोंकी निन्दा किया करते थे जो मूर्खों का नाम सन्त होता है वे बेचारे वेदोंकी महिमा कभी नहीं जान सकते ( सत्या० समु० ११ पृ० ३७८ )

अब वेदके मानने वाली सम्प्रदायों के आचार्यों के लिये दं० स्वामी जी इस प्रकार पेश आते हैं तब वेद विरोधी बुद्ध महावीर ईसा मूसा मुहम्मद केलिये उनके क्या उद्गार होसकते हैं इसको विस्तार भयसे लिखने की आवश्यकता नहीं है हमें तो अब यह देखना है कि स्वा० शङ्कराचार्य के प्रति उनकी क्या सम्मति है।

"बाईससौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रोंको पढ़कर सोचने

लगे अहह !!! स्वयं आस्तिक वेदमत का छूटना और जैन नास्तिक मतका चलाना बड़ी हानिकी बात हुई है इनको किसी प्रकार हटाना चाहिए शङ्कराचार्य शास्त्र तो पढ़ेही थे परन्तु जैनमत के पुस्तक भी पढ़ेथे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी उन्होंने विचारा कि इनको किस प्रकार हटावें। निश्चय हुआ कि वे उपदेश और शास्त्रार्थ करनेसे हटेंगे ऐसा विचार कर उज्जैन नगरीमें आये वहां राजा सुधन्वा पण्डित था वहां आकर वेदका उपदेश करने लगे और सुधन्वा राजा जो संस्कार और जैन था उससे जैनियोंकेसाथ शास्त्रार्थ करने को शङ्कराचार्य ने इस शर्त पर कहाकि हारनेवालेको जीतने वालेकामत स्वीकार करना पड़ेगा जबतक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिलाथा तबतक सुधन्वा सन्देह में था सुधन्वा शङ्कराचार्य की बात सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और जैनियों के पंडित बुलाकर सभा कराई जिसमें शङ्कराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेद विरुद्ध मतथा इस प्रकार अनेक शास्त्रार्थ हुए और जैनी,परास्त होते चले गये ( सत्या० समु० ११ पृ० ३०२ )

इस उपर्युक्त लेख में जहां आदर सूचक बहु वचनान्त शब्द का प्रत्येक स्थान में निर्देश किया है वहां जगद्गुरु भगवान् शङ्कराचार्य को महाविद्वान् बड़ा उपदेशक तार्किक और ब्रह्मचारी लिखाहै इससे स्पष्ट है कि संसार भर के धर्माचार्यों में स्वा० शङ्कराचार्य का उनकी दृष्टि में कितना आदर था। इस लेख के अतिरिक्त स्वामी जी महाराज लिखते हैं कि।

शङ्कराचार्य विद्याप्रचार का विचार ही करते रहे कि इतने ३२ वा ३३ बरस की उमर में शङ्कराचार्य का शरीर छूटगया उनकी मरने से सबलोगों का उत्साह भंग होगया यहभी आर्य

वर्त देश वालों का बड़ा अभाग्य था शङ्कराचार्य दश या बारह बरस भी जीते तो विद्या का प्रचार यथावत् होजाता फिर आर्या वर्त की ऐसी दशा कभीनहीं होती ( सत्यार्थ० पृ०३१४ सन् १८७४ ) शङ्कराचार्य कोई सम्प्रदाय के पुरुष नहीं थे किन्तु वेदोक्त चार आश्रमों के बीच संन्यासाश्रम में थे परन्तु इनके विषय में लोगों ने सम्प्रदाय की नाईं व्यवहार कर रक्खा है ( सत्यार्थ० पृ०३४८सन्१८७५ ) क्या अबभी किसी को सन्देह शेष रह जायगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वा० शङ्करा चार्य के अनुयायी नहीं थे।

एक बार पा० अलकाद महाशय ने पूछा कि महाराजा स्वा० शङ्कराचार्य बड़े योगी थे और दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाया करते थे क्या यह सच है स्वामी जी ने स्वा० शङ्करा चार्य के इस परकाय प्रवेश का खण्डन जैसा कि आजकल आर्य समाजी करते हैं नहीं किया किन्तु यह उत्तर दिया है कि।

यह ऐतिहासिक विषय है इसमें कुछ कहा नहीं जाता हां इतना तो मैं भी दिखला सकता हूं कि चाहे जिस अंग में अपनी न्यारी जीव शक्तिको केन्द्रित करदूं, इसमें शेषसारा शरीर जीवन शून्य हो जायगा परकाय प्रवेशतो इससे आगे एक पांव उठाना मात्र ही है ( दया० प्रका०३६६ ) क्या यह स्वामी शङ्कराचार्य की अलौकिक योगशक्ति का समर्थन नहीं है। स्वामी जी शङ्कर मतानुयायी सन्यासियों को और अपने को एक ही समझा करते थे जैसे कोई अपने घरके मनुष्य या भाई को समझाया करते हैं उसप्रकार सन्यासियों को समझाते हुए आप लिखते हैं।

"देखो तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं ईसाई मुसलमानतक होते जाते हैं तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों का मिलाना नहीं बनता बने तो तब जब तुम करना

चाहो तुमतो केवल शङ्कराचार्योक्त के स्थापन और चक्राङ्कित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हो और यावत् पाखण्डमार्ग है उनका खण्डन नहीं करते हो देखो वेदमार्ग विरोधी वाम मार्गादि सम्प्रदायी इसाई मुसलमान जैनी आदि बढ़गये हैं अब भी बढ़ते जाते हैं और तुम्हारा नाश होता जाता है तब भी तुम्हारी आंख नहीं खुलती ( सत्यार्थ समु०११ पृ० ४०११ )

और यही कारण था कि स्वामी जी के कार्य से शङ्कराचार्य के सम्प्रदायी लोग स्वा० कैलाश पर्वत आदि आन्तरिक सहानु भूति रखते थे ( दया० पू० ) और वैष्णव मतानुयायी राजा कर्णसिंह उनको तलवार से मारने के लिए दौड़े थे और कई स्थानों में वैष्णव और वैरागियों ने उन्हे मारना चाहा और पान में विष देने की चेष्टा की वाममार्गियों ने उन्हे देवी के बलि चढ़ादेना चाहा इत्यादि घटनायें उनके जीवनचरित पढ़ने वालों से छुपी हुई नहीं है।

एकबार स्वामी जी ने स्वा० कैलाश पर्वत से कहा भी था कि हम इन चारमतों की पोल भले प्रकार खोलना चाहते हैं ( १ ) रामानुज ( २ ) वल्लभाचार्य ( ३ ) यमाचार्य ( निम्बा की चार्य ) ( ४ ) माध्वचार्य क्यों कि इनके जालमें बहुत से मनुष्य आगये हैं जिससे देश में बड़ा खराबी फैलगई है स्वा० कैलाश पर्वत ने उत्तर दिया कि हम तय्यार हैं आप मूर्ति पूजा और पुराणों का खण्डन छोड़दें। इसपर स्वामी जी ने कहा कि उनकी जड़ ही मूर्ति पूजा है जबतक जड़ न काटी जायगी यह सम्भव नहीं कि पापरूपी वृक्ष उखड़ जाय ( आर्यधर्मेन्द्र जी० पृ० ६० )

स्वा० दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ११ पृ. ३०२ में यह सिद्ध किया है कि भारत की दुर्दशा बौद्ध और

जैनियों से बहुत होगई थी तब स्वा० शङ्कराचार्य्यने उनका खण्डन करके देश और धर्म की सेवा की स्वा० शङ्कराचार्य के सिद्धान्त बौद्धों के खण्डन के बड़े उपयोगी थे" परन्तु यह लिखते शोक होता है कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के ही अनुयायी अपने गुरू के विरुद्ध यह लिखने का साहस करते रहते हैं कि इन बौद्धों में से योगाचार अर्थात् विज्ञान वादी के मतको सामने रक्खा जाय तो मालूम होगा कि शङ्कर भगवान इन के बराबर ही आसन लगाए बैठे हैं ( आर्य का ऋषि बोधाङ्क फा० कृ०१४ सं०१९८३ का बौद्ध और शङ्कर मत नामक लेखदेखो)

जब स्वा० दयानन्द सरस्वती की स्वा० शङ्करा चार्य में इस प्रकार गाढ निष्ठा है तब उनको सनातन धर्मकी सीमा से बाहर करदेना और जो स्वा० शङ्कराचार्य को दुर्वचन प्रदानकरके कलङ्कित करें उनको सनातन धर्म की सीमा में ही समझना कितनी बुरी बात है । श्रीशङ्कराचार्यको दुर्वचन कहने वाला सनातन धर्मी नहीं हो सकता, चाहे वह अपने को सनातनी कहें यह कैसे सम्भव है कि शङ्कराचार्य को गाली प्रदान करने वाला शङ्कर सम्प्रदायी की दृष्टि में सनातन धर्मी रहसके और न यही हो सकता है कि गाली देने वाला श्री शङ्कराचार्य या उसकी सम्प्रदाय को सनातनी मानें, अतएव कहना पड़ेगा कि ये दो तलवार एकस्थान में नहीं आसकती, या तो वैष्णवही सनातन धर्मी हो सकते हैं या शङ्कर सम्प्रदायी ही, दोनों को मिलाकर सनातन धर्म का स्वरूप बताना नितान्त हानि कारक बात है, स्वा० शङ्कराचार्यको जैसे अनुचित शब्दोंका प्रयोग वैष्णव द्वारा समय२ पर किया जाता है उसका दिग्दर्शन पाठकों को करादेना उचित है।

महन्त रंगाचार्यनेएक "पाखण्ड दण्डनम्" नामक पुस्तक लिखी है जो वृन्दावन में छपी है उसके द्वितीय भाग के

पृ० ३ पर लिखे हुए श्लोकों का भाव है कि " आनन्दगिरिकृत शङ्कर दिग्विजय के देखने से पता लगता है कि एक शिवस्वामी नामक ब्राह्मण बड़े वैराग्यवान् और सत्पुरुष थे उन्होंने सन्यास लेलिया उनकी स्त्रीका नाम विशिष्टा था जो नित्यप्रति भक्ति युक्त शिव पूजा कि या करती थी।

दिने दिने स ववृधे विशिष्टागर्भगोलकः।

अर्थात्—इस प्रकार पूजा करते हुए विशिष्टा का गर्भ गोलक बढने लगा, स्मृतियों में लिखा है कि—

अमृते जारजः कुण्डः मृते भर्तरि गोलकः

अर्थात्—पतिके जीवित रहने पर जो अन्य मनुष्य का गर्भ रह जाता है उसको कुण्ड और पति की मृत्यु के अनन्तर जो गर्भरह जाता है उसेगोलक कहते हैं,आनन्द गिरिनेही शङ्कराचार्य को गोलक लिखा है जो स्वयंशंकरमतानुयायी था"। इसी प्रकारके आक्षेप " व्यामोह विद्रावण " दुर्जनमुखमंगच्च पेटिका आदि ग्रंथोंमें और भी किये गये हैं यदि उपर्युक्त लेख पापण्डि दण्डनेमें नमिले तो इनदो पुस्तकोंमें मिलजायगा येभी वृन्दावन मिलती हैं उपर्युक्त आकर ( पता ) हमने पुस्तक विना पूर्व स्मरण से लिखा है।

जब स्वा० शङ्कराचार्य केपिता अपनी धर्म-पत्नी के गर्भवती होजानेके अनन्तर सन्यासी हुए तब क्या रामानुजियों का यह यह आक्षेप अनुचित नही है श्रीशङ्कराचार्य केपिता शिवस्वामी सन्यासी होकर जोचित्रगे और जीवित दशाके जारज गर्भ का नाम उनके कथनानुसार कुण्ड होसकताथा गोलक नही, यहां तो " गोलक " शब्द अग्निगोलक अयोगोलक की भांति गर्भके गोलकके लिये आया है तब क्या श्रीरामानुजाचार्य की माताका गर्भगोलक कभी वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ था और क्या इस

गोलकानन्दको लेकर इनको भी यही व्यवस्था होगी। शङ्कराचार्य आनन्दगिरि जो शङ्कराचार्य की दिग्विजय लिख रहा है (शिष्य होकर भी) तुम्हारे ख्यालके अनुसार गोलकानन्द शंकराचार्य केलिये लिख सकता है। हमें तो उन कृपानन्दवर्णियों की बुद्धिपर क्रोध और हंसी आती है जो इनको सनातनधर्मी और स्वा० दयानन्द सरस्वती को अन्य तथा शत्रु समझते हैं, मौलाना हालीने ठीक कहा है—

> उसे जानते हैं बड़ा अपना दुश्मन।
> हमारे करे ऐब जो हमपै रोशन॥
> नसीहतसे नफरत है नासेहसे अनबन।
> समझते हैं हम रहनुमाओंको रहज़न॥
> यही ऐब है सबको खोया है जिसने।
> हमें नाव भरकर डुबाया है जिसने॥

अब यही एक प्रश्न शेष है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की स्वा० शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैतवाद में क्या सम्मति है इसके बताने से पूर्व आवश्यक है अद्वैतवादका सामान्य परिचय पाठकों को करा दिया जाय जिससे स्वामीजी के मतके समझने में सुगमता होसके।

अद्वैत वेदान्तियों के सिद्धान्त में एक ही तत्व ब्रह्म स्वतन्त्र रूप अविनाशी आकाशकी भांति व्यापक तथा चैतन्य है, और उसकी अनंत सामर्थ्य या स्वाभाविक क्रियाका नाम माया है, वह ब्रह्मसे पृथक् नहीं है परन्तु उस अखण्ड और निष्क्रिय ब्रह्म में कब और कैसे उस स्वाभाविक क्रियाका प्रादुर्भाव हुआ इसका कुछ भी पता मनुष्य को नहीं लगसकता, इससे माया भी अनादि मानी जाती है परन्तु परिवर्तन शील होनेसे स्वतन्त्र उसकी कोई सत्ता नहीं है, परिवर्तन शील का वेदान्त में दूसरा

पर्याय मिथ्या है, इससे मायाको मिथ्या भी कहते हैं, जितने अवकाशमें माया अर्थात् ब्रह्मकी स्वाभाविक क्रियाका प्रादु-र्भाव होता है उतने ही सगुण और सक्रिय ब्रह्मकी 'ईश्वर' संज्ञा होजाती है।

ब्रह्म उस ईश्वर से भी बृहत् है "पादो ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ( यजुर्वेद ३१।३) उस ब्रह्मके एक पाद में सारे ब्रह्माण्ड हैं और त्रिपाद् अमृत है। इससे अद्वैतवादियों के मतमें एक ब्रह्मया परमेश्वर है जिसके लक्षण बताने में वेद भी "नेति नेति" कह उठता है दूसरा ईश्वर है जो उस परमेश्वर से भिन्न तो नही परन्तु मायोपाधिक होनेसे ईश्वर कहाता है। यही ईश्वर सृष्टिकर्त्ता अजन्मा निराकार सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्व शक्तिमान् आदि धर्मवाला है श्रीस्वा० शङ्कराचार्यने कहा है कि-

द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं सर्वोपाधिविवर्जितम्-यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कः पश्येत् ( बृहदा० ४।५।१५ ) इतिचैवं सहस्रो विद्याविद्याविषय भेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि ( ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य १।१।१२ )

अर्थात्—ब्रह्म दो प्रकार का होता है नाम रूपात्मक विकार भेद की उपाधि से युक्त तथा उससे विपरीत सर्व उपाधि रहित जहां द्वैत होता है वहां तो दूसरा दूसरे को देख सकता है और जहां अद्वैत ज्ञान से सबको आत्माही जानने लगता है तब कौन किसे देखे इस प्रकार सहस्रों वेदान्तवाक्य विद्या और अविद्या के भेदसे ब्रह्मके दोरूप कहते हैं "सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादी श्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पा-न्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः ( ब्र० सू० शा० भा० १।३।१२ )

सब व्यवहारको नष्ट कर देने वाली महाप्रलय के होजाने पर भी परमेश्वर की कृपा से हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों को दूसरे कल्पों के व्यवहारों का ज्ञान रहता है इस से सिद्ध होगया कि परमेश्वर निर्गुण और सबका आदिमूल है और ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व आदि गुण है। स्वा० निश्चलदासजी ने ब्रह्म और ईश्वर के लक्षण प्रथम और द्वितीय दोहे में भिन्न २ इस प्रकार किये हैं।

> अन्तर बाहिर एक रस जो व्यापक भरपूर।
> विभु नभ सम सो ब्रह्म है नहीं नेरं नहीं दूर ॥१॥
> चित् छाया माया विषै अधिष्ठान संयुक्त
> मेघ व्योमसम ईश सो अन्तरयामी मुक्त ॥ २ ॥
>
> ( विचार सागर पृ० १४३ )

इसी प्रकार स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भी लिखा है कि "ब्रह्म सबसे बड़ा परमेश्वर ईश्वरों का ईश्वर, ईश्वर सामर्थ्य युक्त न्यायकारी कभी अन्याय नहीं करता, दयालु सब पर कृपा दृष्टि रखता सर्व शक्तिमान् अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् के पदार्थों का बनाने वाला है। ( सत्यार्थ० समु० ११ पृ० )

( २ ) इस प्रकार स्वामीजी के कथनानुसार गुण भेदसे एक ही परमात्मा की परमेश्वर तथा ईश्वर संज्ञा होती है और इसी भेद को ध्यानमें रखकर स्वामीजीने आर्य समाज के नियम बनाये हैं।

( १ ) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

( २ ) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार न्यायकारी दयालु अजन्मा अनन्त निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर सर्व व्यापक सर्वान्तयामी अजर अमर अभय नित्य पवित्र और सृष्टि कर्ता है, उसकी उपासना करनी चाहिये।

इन दोनों नियमों को तो अद्वैतवादी देखेगा वह समझ लेगा कि इन नियमों का प्रधान मूल अद्वैत वेदान्त है अद्वैतवाद में ही परमेश्वर सबका आदि मूल है और ईश्वरमें सृष्टि कर्तृत्व आदि गुण हैं उपासना ईश्वर की ही की जाती है ब्रह्माद्वैतज्ञान होने पर उपासना नहीं है।

" तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मणः उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।१२ )

अर्थात्-अविद्या अवस्था में ही ब्रह्म का उपास्य उपासक भेद रहता है पीछे नहीं, यही बातें स्वामीजी ने अपने नियमों में प्रकट की है, नहीं तो कोई कारण न होथा कि दो नियम बनाये जाते, केवल दूसरे नियम में " सर्वादिमूल" पदका बढाना ही पर्याप्त था, क्या कारण है कि पहले नियम में परमेश्वर" पद है और दूसरे में "ईश्वर," आर्य समाजी प्रायः अद्वैतवादको समझते नहीं है अतएव उन्हें इन नियमोंके रहस्यों का समझना कठिन ही है परन्तु हमारा तो कथन उन सनातनधर्मी पण्डितों से है जो सब कुछ समझ कर भी इन नियमों पर लक्ष्य किये बैठे हैं।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद की पुष्टि में स्वामीजी ने बहुत कुछ लिखा है जिस का दिग्दर्शनमात्र यहां भी करा देना योग्य है।

आर्याभिविनय में स्वामीजी " हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे० इस मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि--

( ३ ) "जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ ही प्रथम था, वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है, वही परमात्मा पृथिवी से लेकर प्रकृतिपर्यन्त जगत् को रचके धारण करता है ( आर्या० शता० ५३ )

इस उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामीजी ने एक **अद्वितीय परमात्मा को** प्रकृति का रचने **वाला बताया है।**

इसके अतिरिक्त य इमा विश्वभूतानि० इस मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामी जी कहते हैं।

(४) "होता" उत्पत्ति समयमें देने और प्रलय समय में सबको लेने वाला परमात्मा ही है "ऋषि" सर्वज्ञ इन सब लोक लोकान्तरों भुवनों का अपने सामर्थ्य कारण में होम अर्थात् प्रलय करके 'न्यसीदन्' नित्य अवस्थित है सोही हमारा पिता है फिर जब "द्रविण" द्रव्यरूप जगत्कोस्वेच्छासेउत्पन्न किया चाहता है उस "आशिषा" सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को सहज स्वभावसे रच लेता है (आर्या० शता० ५६) इस उपर्युक्त मन्त्रमें भी उत्पत्ति समयमें देनेवाला और प्रलयमें सब जीव और प्रकृतिको अपने भीतर लय करने वाला लिखा है और अपनी स्वभाविक सामर्थ्य अर्थात् मायासे सब जगत् की रचना बताई है।

(५) किंचिदासीं त्० इत्यादि मन्त्र का भाष्य करते हुये आप लिखते हैं कि उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्यसे इस जगत् को रचा है।

बहुतसे आर्यपंडित इस सामर्थ्य पद का प्रकृति अर्थ किया करते हैं परन्तु यह अर्थ मनगढन्त है अतएव अप्रमाणिक है, इसलिये इसका निर्णय (फैसला) स्वा० दयानन्दसरस्वतीके अक्षरोंमें ही करदेना चाहिये, स्वामीजी लिखते हैं।

(६) परमेश्वर का अनन्त सामर्थ्य स्वभाविक ही हैं अन्यसे नहीं लिया गया है वह सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म है और स्वाभाविक होनेसे परमेश्वर का विरोधी भी नहीं है किन्तु उसीमें वह सामर्थ्य रहता है। इससे सब जगत् को ईश्वरने रचा है इससे क्या आया कि भिन्न पदार्थ न ले [illegible] जगत्के रचने के उपादान कारण परमेश्वर ही है

क्योंकि अपने से भिन्न कोई पदार्थ नहीं जिसे लेकर जगत् को रचे तथा अपनी शक्ति से नाना प्रकारके जगत् के रचनेसे दूसरे के सहाय विना इससे जगत् का निमित्त कारण भी ईश्वर ही है किसी अन्य पदार्थ की सहायसे ईश्वरने जगत को नहीं रचा किन्तु अपनी सामर्थ्यसे जगत को रचा है साधारण कारण भी जगत् का ईश्वर है (सत्यार्थ पृष्ठ २५७ सन १८७५)

इस उपर्युक्त लेख देखने से अब किसी को कुछ शंका नहीं रह सकती कि इन शब्दों में स्वामीजी का अद्वैतवादके सिवाय और भी कुछ अभिप्राय होगा, क्या कोई सामर्थ्य पद का अर्थ प्रकृति किया सकता है, जो ईश्वरसे भिन्न स्वतन्त्र वस्तु हो। क्या किसी की सामर्थ्य उस व्यक्तिसे पृथक् रह सकती है फिर ईश्वरसे पृथक् और स्वतन्त्र प्रकृति का सामर्थ्य पदसे ग्रहण कैसे किया जासकता है

(७) ऋग्वेद भाष्य भूमिका के पृ० ११५ में सृष्टि विद्या का प्रकरण स्वामीजीने लिखा है उसमें सर्व प्रथम मन्त्र है

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्

भाष्य- यदाकार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत तदासत्सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाश मपि नासीत् तस्मिन् काले सत्प्रकृत्यात्मकमव्यक्तंस त्संज्ञकंयज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्तत परमाणवोपि नासन् व्योमाकाशमपरं यस्मिन्विराडाख्ये सोपि नो आसीत् किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्य परमकारण मेव तदानींसमवर्त्ततेत्यादि (ऋग्वे० भू० पृ० ११६)

अर्थात् "जब यह कार्य सृष्टिउत्पन्न नहीं हुई थी तब शून्य नाम आकाश भी नहीं था और रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान (प्रकृति) कहाता है वह भी नहीं था और उस

समय परमाणु भी नहीं थे और विराट् भी नहीं था केवल उस परब्रह्म की अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य थी

अब इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है, कि सृष्टि से पूर्व न तो प्रकृति ही थी और न परमाणु ही, केवल परमात्मा की स्वाभाविक सामर्थ्य जिसको वेदांत की परिभाषामें माया कहते हैं, विद्यमान थी जब परमाणु और प्रकृतिसे भिन्न कोई वस्तु सामर्थ्यरूप नित्य है तो वेदान्तियों की मानी हुई माया का नाम ही तो हमने सामर्थ्य रख लिया है ज्ञात रहे कि वेदान्तमें भी परमेश्वर की सामर्थ्य (माया) को नित्य माना है परन्तु वह स्वतन्त्र नहीं है केवल परिणामी नाम रूपात्मक ही है यदि स्वामीजी जीव ईश्वर प्रकृति तीनों को नित्य स्वतन्त्र और अपरिणामी मानते तो सत्यार्थप्रकाश की तरह द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (स० प्र० २१८) इत्यादि मन्त्र लिखकर ऋग्वेद भूमिकामें भी उस सिद्धान्त को वैदिक प्रतिपादन करते, परन्तु सारी भूमिकामें यह मन्त्र नहीं मिलता और न इस सत्यार्थ प्रकाशमें ही है परन्तु स्वामीजीने द्वितीयावृत्ति सत्यार्थ प्रकाशमें यह मन्त्र लिखकर जीव ईश्वर प्रकृति तीनों को नित्य माना इसका कारण आगे बताया जायगा। यहां तो यही बताना है कि स्वामीजी ईश्वर के सामर्थ्य को प्रकृतिसे भिन्न मानते हैं, आप लिखते हैं

"ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् (ऋग्वेद भा० भू० पृ० २७)

अर्थात् वेद ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्य स्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है" यहाँ सामर्थ्य पद प्रकृतिसे भिन्नके लिये ही प्रयुक्त किया है, अन्यथा

वेदभी फिर प्रकृतिका कार्य होजायगा स्वामीजीने द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाशमें जीव ईश्वर प्रकृति तीनों को भिन्न२ माना है, क्या यहां जो सामर्थ्य पद आया है और जिसे तुम प्रकृति का पर्याय बताते हो ईश्वरसे भिन्न है।

(८)त्रिपादूर्ध्व० इत्यादि मन्त्रका अर्थ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं "एकं जंगमं जीवचेतनादिकं जगत् द्वितीयं पृथिव्यादिकंच यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्तते तदुभयं तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते[ ऋग्वे० भा० १२२] अर्थात् एक जगत् जङ्गम जीव आदि द्वितीय जड़ पृथिव्यादि ये दोनों उस परमात्मा की सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं।

अब इससे अधिक स्पष्ट और क्या प्रमाण होगा कि जीव और प्रकृति दोनों ही परमात्मा की सामर्थ्यसे उत्पन्न होते हैं यदि सामर्थ्य का अर्थ प्रकृति करोगे तो जीव भी प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सारा पुरुष सूक्त भाष्य उपर्युक्त कथन को पुष्टि कर रहा है, विस्तार भयसे यहां नहीं लिखा गया जिज्ञासु मनुष्य ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को स्वयं देख ले।

(९) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यं प्रयन्त्य भिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद्ब्रह्म(तैत्त० भृगु०अनु० १

जिस परमात्मा की रचनासे सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं। जिससे जीव [उत्पन्न होकर जीते हैं] और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं वह ब्रह्म है। स०प्र० स०७ पृ० २१८, इस मन्त्रमें भी स्वामीजीने जगत् और जीवोंको ब्रह्मसे उत्पत्ति तथा ब्रह्ममें ही लय लिखा है और ऐसाही स्वा० शंकराचार्य ने लिखा है जिसके अनुकूल स्वामीजीने ऐसा माना है।

'एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं कारणं [illegible] कारणम पीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं [illegible] ब्रह्माप्येतीति

(ब्र० सू० शां० भा० २।३।१४) इसी क्रमसे सूक्ष्म अपनेसे अधिक सूक्ष्म कारणमें सारे कार्य (प्रकृति जीव) परम कारण परम सूक्ष्म ब्रह्ममें लय हो जाते हैं इस प्रकार स्वा० शंकराचार्य तथा स्वा० दयानन्द सरस्वतीके सिद्धांत एकही हैं।

इसके अतिरिक्त यदि स्वामीजी की प्रथम आवृत्ति सत्यार्थ प्रकाश (समु० ७।८।६) देखी जाय तो उसमें यह लिखेगा ही नहीं कि जीव ईश्वर प्रकृति अनादि होते हैं किन्तु उसमें अद्वैत मतका स्पष्ट उल्लेख है जिसके देखनेसे भी इस विषयमें स्वामीजीके मत का भली भांति पता लग जाता है

(११) आत्मा की व्युत्पत्ति करते हुये स्वामीजी लिखते हैं कि "अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति आत्मा ( स० समु० ७ पृ० १९६ अर्थात् जो सब जगह व्यापक हो उसको ही आत्मा कहते हैं परन्तु आर्यसमाज जीवात्मा को व्यापक न मानकर परिछिन्न मानता है और अद्वैत वादमें आत्मा व्यापक माना गया है।

(१२) स्वामीजी समय २ पर अद्वैतवाद पर कितना गम्भीर उपदेश देदिया करते थे इसका एक उदाहरण पाठकोंको सेवामें प्रस्तुत करदेना चाहते हैं "एक दिन गंगा तीर पर एक साधु कमंडलु आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोनेमें प्रवृत्त था और वह पढ़ा हुआ मायावादी था वह स्वामीजी से बोला आप प्रजा प्रेमके क्या झगड़ेमें पड़ हो आप मासे प्रेम करो स्वामीजीने कहा कि आत्मा कहां है साधुने उत्तर दिया कि जो चिऊंटी से लेकर हाथी पर्यन्त सब प्राणियों में रम रहा है स्वामीजीने कहा नहीं तुम उस आत्मासे प्रेम नहीं करते हो जो सबमें है तुम्हें अपनी चिन्ता पड़ी हैं क्या आपने कभी उन बन्धुओं की चिन्ता की है जो भूख की चिता पर जल रहे हैं मैं समष्टि आत्मासे और विराड् आत्मासे प्रेम करता है ... अंगकी भांति सब

का अपमान होगा अपनी क्षुधा निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी सच्चा परमात्म प्रेम किसीसे घृणा नहीं करता वह ऊँच नीच की भेद भावना को त्याग देता है उतना ही पुरुषार्थ औरोंके लिये करता है जितना अपने लिये कष्ट क्लेश करता है ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तवमें आत्मप्रेमी कहलानेके अधिकारी हैं वह साधु यह सुनकर स्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़ा और अपने अपराध को क्षमा कराने लगा (दया० प्र० १२५) यह देखिये यह माया वाद शंकरमत का कैसा सर्वश्रेष्ठ उपदेश है जिससे स्वामी सत्यानन्दजीके कथनानुसार घुटा हुआ मायावादी भी स्वामीजीके चरणों में गिर पड़ा।

(१३) शंकर सम्प्रदाय का एक सिद्धांत है जिसे कर्म सन्यास कहते हैं, जब मनुष्यको जीव ईश्वर की एकता का ज्ञान हो जाता है तब उसके लिये कोई नित्य नैमित्तक कर्म शेष नहीं रहजाता, स्वा० शंकराचार्य लिखते हैं "अहंकारो ह्ययमस्माकं यदृह्मात्मावगतौ सर्वकर्त्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति (ब्र० सू० शां० भा० १।१।४) अर्थात यह हमारा अलंकार है जो जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाने पर सब कर्मों का त्याग कर देते हैं और कृतकृत्य हो जाते हैं यही कारण है कि यज्ञादि विद्या के चिन्ह शिखा सूत्र (स० समु० ११) का भी शंकरानुयायी परित्याग कर देते हैं। स्वामीजी से भी शिखा सूत्र का परित्याग कराया गया और आर्य सन्यासियों में अब भी होता है यह सब कुछ तब ही सम्भव है जब "अहं ब्रह्मास्मि" का पाठ रटा जाय नहीं तो अज्ञान दशामें तो सर्वथा कर्म करने ही चाहिये स्वामीजी लिखते हैं बाह्य जितने कर्म हैं उनको त्याग कर योगाभ्यासादि-आभ्यन्तर कर्मों को यथावत

करे (सत्या० प्र० ४६४) इत्यादि सिद्धान्त शंकराचार्य तथा स्वा० दयानन्दाचार्य के एक से ही हैं जो अद्वैत ज्ञान छोड़कर द्वैतमानते हैं उन वैष्णव सम्प्रदायोंमें सन्यास लेने पर भी शिखासूत्र का परित्याग नहीं होता है

(१४) इसी प्रकार स्वामीजीने शंकरामतानुकूल ब्रह्म के लक्षण सजातीय विजातीय स्वगतभेद शून्य किये हैं (सत्या० समु० १ पृ० १८) यदि स्वामीजी जीव ईश्वर प्रकृति इस तात्वत्रय को अनादि मानते तो यह लक्षण नहीं लिखते क्योंकि व्यापक परमात्मामें जीव प्रकृतिके रहनेसे स्वगतभेद शून्य ब्रह्म नहीं होसकता इत्यादि छोटी २ अनेक बातें हैं जो स्वामीजीने अपने लेख से प्रगट की है और जिनसे अद्वैतवाद स्पष्ट सिद्ध होता है।

अब मुक्तिके विषयमें स्वामी शंकराचार्यके मतका अनुवाद करके स्वामीजीके मतका उल्लेख करता है स्वामी शंकराचार्यजी लिखते हैं।

"मुक्तानांच पुनरनुत्पत्तिः कुतो विद्या तस्य बीजशक्ते र्दाहात् (ब्र० सू० शां० भा १।४।३) अर्थात् मुक्तहो जाने पर फिर जन्म नहीं होता क्योंकि अद्वैत ज्ञानसे जन्म होने की शक्तिका ही दाह हो जाता है। अब स्वामीजी का मत देखना चाहिये कि मुक्तिसे पुनरावृत्तिमें उनका क्यासिद्धांतहै स्वामीजीने प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाशम यह कहीं भी नहीं लिखाहै कि जीव मुक्तिसे फिर लौट आता है, किन्तु यह लिखा है,

(१) "जीवका जन्म मरण का मूल अविद्या ज्ञानसे नष्ट हो जाती है मनुष्य फिर वह जन्म धारण नहीं करता (स० प्र० २६४ सन् १८७५) इस विद्यासे अमृत जो मोक्ष उसको प्राप्त होजाता है फिर दुःख सागरमें कभी नहीं गिरता [ स० २७५ सन् १८७५ ]

[२] "यथावद्दियाविज्ञानधर्मानुष्ठाना न्तरं यविद्धेश्वर ब्रह्मतत्त्व विज्ञानं तेनसर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दप्राप्तया जन्ममरणादि सर्वदुःख निवृत्तिः ईश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिः मुक्तिः [वेद विरुद्ध म० खं० श०] यथावान् जो विद्या विज्ञान और धर्मका जो यथावत् अनुष्ठान करनेके पश्चात् निभ्रान्ति ब्रह्मको जानना उससे सर्वज्ञ ईश्वरके सब आनन्द की प्राप्तिसे जन्म मरणादि सब दुःखोंकी निवृति और ईश्वरके आनन्दके साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती हैं [पं० भीमसेन कृत टीका]

[३] फिर उस दुःखके अत्यन्त अभाव और परमात्माके नित्य योग करनेसे जो सब दिनके लिये परमानंद प्राप्त होता है उस सुख का नाम मोक्ष है [ऋग्वेद भा० प० १६२]

[४] "इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्द दिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्तया जीवःसदा सुखी भवतीति बोध्यम" अर्थात् इस प्रकार मुक्त जीवोंसे प्राप्त करने योग्य मोक्षके स्वरूप परमात्मा की प्राप्तिसे जीवसदा आनन्दमें रहताहै और सदा उसमें स्वच्छन्दता से रमण करता है [ऋग्वेद भा० भू०प० १८७] इस प्रकार स्वामीजी ने अपने प्रत्येक ग्रंथमें मुक्तिसे फिर नहीं लौटना माना है यदि स्वामीजीका सिद्धान्त मुक्तिसे पुनरावृत्ति होता तो क्यों न वे "कस्य नून कतमस्य प्रजाना" मित्यादि ऋग्वेदके मंत्र वर्तमान सत्यार्थ प्रकाशकी तरह ऋग्वेद भाष्य भूमिकामेंभी लिखते। इससे पाठकोंको समझलेना चाहिये कि स्वा० दयानन्द सरस्वती तथा स्वा० शङ्कराचार्यका इस विषयमें एकही सिद्धान्त है सत्यधर्म विचार नामक पुस्तकमें स्वामीजीने लिखा है।

[५] मुक्ति कहते हैं छूट जाने को अर्थात् जितने दुःख हैं उन सबसे छुटकर एक सच्चिदानन्द रूप परमेश्वर को प्राप्त होकर आनन्दमें रहना और फिर जन्म मरण आदि दुःख सागरमें नहीं

गिरता इसीका नाम मुक्ति है [स० य० भा० वि० श० पृ० ८३७] आर्य-समाजी पण्डित जान बूझकर इन वचनों पर दुर्लक्ष्य करके कहा करते हैं कि यहाँ सदा पद सापेक्ष है अर्थात् जब तक मुक्ति की मियाद है तब तक दुःख सागरमें नहीं गिरता और तब तक ही सुखी रहता है। परन्तु जिसको जरासी भी समझ है वह समझ लेगा कि यह कोरा प्रतारण मात्र है, और स्वामीजीके अभिप्राय से कोसों दूरकी बात है। जन्म मरण के दुःखसागरमें नहीं पड़ता इससे अधिक स्वामीजीके और क्या अक्षर हो सकते हैं जिनसे यह बताया जासकता है कि मुक्ति नित्य है आप कोई भी अक्षर लिखदें हम सबको सापेक्ष अर्थात् मुक्ति की मियाद तकके लिये बता सकते हैं।

अब यहाँ केवल एक यही लम्बा चौड़ा प्रश्न शेष रह जाता है कि जब स्वामीजी शङ्करमतानुयायी थे तो फिर क्या कारण है कि उन्होंने दूसरीबारके सत्यार्थप्रकाशमें " तवाद का खण्डन करके मुक्तिसे पुनरावृत्ति मानली। इसकी बाबत बहुतसे पण्डितों का ख़याल है कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द सरस्वतीकी मृत्युके अनन्तर छपी है, और आर्यसमाज प्रयागकी बनाई हुई है, यह बात पं० तुलसीरामजी मेरठ वालेने अपने पत्र वेदप्रकाश पृ०१८ अगस्त सन् १९१० में लिखी है, और उर्दू सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में मन्त्री आर्य समाज लाहौर ने भी यही माना है, इसके अतिरिक्त इस सत्यार्थ प्रकाश का प्रूफ संशोधन भी स्वामीजी नहीं करसके यहबात शताब्दी संस्करण की भूमिका में पं० हर विलास शारदाने भी मानी है जब स्वामी जी की जीवित अवस्था में ही आर्य समाजियों के ख़याल के अनुसार पौराणिक पंडितों ने सत्यार्थ प्रकाश में मिलावट करदी थी तब कौन बड़ी बात है कि उनकी मृत्यु के अनन्तर वर्तमान

सत्यार्थ प्रकाश में भी किसी ने अद्वैतवाद का खण्डन और मुक्ति से पुनरावृत्ति मिलादी है। दूसरे पक्ष के विद्वानों का विचार है कि स्वामी जी के विचार तो अद्वैतवादी ही थे, परन्तु वे वेदान्त विषय के धुरन्धर विद्वान् नहीं थे, इसलिये वेदान्त की गुत्थियों के सुलझाने में असमर्थ रहने के कारण सीधासादा सिद्धान्त जीव ईश्वर प्रकृति तीनों अनादि मानकर उत्तर दे दिया करते थे, यदि वे इस विषय के विद्वान् होते तो वेदान्तशास्त्र के पारिभाषिक शब्द अविद्या जिसका अर्थ कर्म है योगशास्त्र प्रसिद्ध 'मिथ्या' ज्ञान नहीं करते। स्वामीजी ईशोपनिषद् के मंत्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं। "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" ( पातञ्जल. योगसूत्र ) जो अनित्य अपवित्र दुःख और अनात्म पदार्थों में नित्य शुचि सुख और आत्मा का ज्ञान करलेना अविद्या है (सत्यार्थ० ९ समु० ) यदि इस प्रकार अविद्या शब्द को मिथ्या ज्ञान अर्थ मानाजाय तो "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृत मश्नुते (यजुर्वेद अ० ४०। १४ ) अविद्या से मृत्यु को तरकर विद्या से अमृत प्राप्त होता है यह अर्थ ठीक नहीं रहता। क्यों कि मिथ्या ज्ञान से मृत्यु का तरना असम्भव है, इससे यहां अविद्या पद का वेदान्त का पारिभाषिक अर्थ कर्म ही लिया जायगा। पारिभाषिक शब्द उसे कहते हैं जो शास्त्र अपने लिये किसी भी शब्द का अर्थ कुछ ही नियत करले, चाहे अन्य शास्त्रों में उस का दूसरा अर्थ हो, पारिभाषिक शब्द प्रत्येक शास्त्र में होते हैं स्वामीजी ने भी अविद्या पद का अर्थ इस मंत्र में कर्म ही किया है, परन्तु वहीं नवम समुल्लास के आरम्भ में इसे योग शास्त्र प्रसिद्ध अविद्या शब्द के साथ रलामिला दिया है। इसके अतिरिक्त सत्यार्थ प्रकाश में जो अद्वैतवाद पर आक्षेप किये हैं उनके

देखने से भी विदित होजाता है कि इन आक्षेपों के करनेवाले को अद्वैतवाद से कुछभी विज्ञता नहीं है। परन्तु हमारा मन यह नहीं है हमतो इसी पुस्तक के पृ० ४६ में लिखचुके हैं कि स्वामी जी को चैतन्य मठ में इस सिद्धान्त की पूरी अभिज्ञता प्राप्त हो चुकी थी।

अद्वैतवाद में एक ही ब्रह्म सत्यऔर स्वतन्त्र है, तथा नाम रूपात्मक ( मायारूप ) जगत् केवल दृश्य हैं जैसे सुवर्ण सत्य पदार्थ है और उसपर नामरूपात्मक कड़ा कोंधनी आदि केवल दृश्य या मिथ्या हैं मुसलमान ईसाइयों के यहां भी केवल एक परमेश्वर ही सर्व प्रथम है, और उसीने अपनी शक्ति से जो आत्मा ( रूह ) और प्रकृति ( माद्दे ) को रचा है, तब यहां यह बड़ा प्रश्न शेष रहजाता है कि असत् से सत् कैसे होगया अर्थात् जो ईश्वर में भलाई बुराई नहीं है वह संसार में कहां से आगई क्योंकि जो चीज जहां पहले है नहीं वह हो नहीं सकती संसार में कोई उदाहरण नहीं है कि असत् ( नेस्ती ) से सत् ( हस्ती ) हो सके तिलों से ही तेल निकल सकता है बालू से नहीं, परन्तु यह शंका उसी स्थानपर हो सकती है, जहांगुण परिणाम वाद 'दूध से दही बनसकता है तलनहीं' यह माना जाय इस लिये ईश्वर से ईश्वर उत्पन्न हो सकते हैं जीवात्मा और प्रकृति नहीं। मुसलमान और ईसाइयों के यहां परमात्मा भी सत्य है और उससे उत्पन्न होने वाले जीवात्मा और प्रकृति भी सत्य ही है, और सत्य से उत्पन्न हुई सत्य वस्तु में कारण के गुण कार्य में आना आवश्यकीय है परन्तु अद्वैत वाद में जहां ब्रह्म सत्य है, वहां माया केवल दृश्य अर्थात् वाहरी दिखावा मात्र है, वह कोई सत्य या स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, इसेही वेदान्त की परिभाषा में विवर्तवाद कहते हैं।

यस्तात्विको ऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः

अतात्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः परिकथ्यते ( गीतारहस्य )

जैतात्विक बदलाव होता है वह परिणाम कहाता है जैसे दूधमें दही तिलोंसे तेल और जो अतात्विक बदलाव है उसे विवर्त कहते हैं जैसे रज्जुमें सर्प तथा शुक्तिमें रजतका भान होता है। यहां रस्सीमें सर्पका बदलाव तात्विक नहीं है, वहतो मनुष्यने अपनी इन्द्रियों द्वारा कल्पित खड़ा कर लिया है, यहां यह आवश्यक नहो है कि रस्सी में सर्प हो अवही प्रतीत होवे। इस गुण परिणाम वाद और विवर्तवादके भेदको न समझ करही कुछ मुसलमान आजकल लिखदिया करते हैं जैसे तुम्हारे एकही ब्रह्मसे सृष्टि है इसी प्रकार हमारे यहां भी एकही खुदासे दुनियां बन जाती है, परन्तु यह उनकी भूल है, स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनुभव किया कि इनको इतना भी कहनेका मौका न मिले कि जैसा तुम्हारा एक ब्रह्मवैसा हमारा एक खुदा, इनके मस्तिष्क (दिमाग) अभी इतने कहां है जो विवर्तवाद को समझसके। इस बातके समझने के लिये तीव्र बुद्धिकी आवश्यकता है। और यही बात लोकमान्य तिलकने कही है कि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानही केवल सत्य और अन्तिम साध्य है तथा उसके समान इस संसार में दूसरी कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है, तथापि अब तक उसके विषयमें जो विचार किया गया और उसकी सहायतासे साम्यबुद्धि प्राप्त करनेका जो मार्ग बतलाया गया है वह सब बुद्धिगम्य है, इस लिये सामान्यजनों को शङ्का है कि उस विषय को पूरी तरहसे समझने केलिये प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि इतनी तीव्र कैसे होसकती है, और यदि किसी मनुष्य को बुद्धि इतनी तीव्र नहो तो क्या उसको ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे हाथ धो बैठना चाहिए अथकि बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष

विनाशी नाम रूपात्मक मायाने आच्छादित तुम्हारे उस अमृत-स्वरूपी परब्रह्मका वर्णन करते समय "नेतिनेति" कह कर चुप होते हैं तब हमारे समान साधारण लोगोंको समझमें यह कैसे आवे आश्चर्य चकित होकर आत्मा (ब्रह्म) का वर्णन करने वाले तथा सुनने वाले बहुत हैं तो भी किसी को उसका ज्ञान होता है (गीतारहस्य पृ० ४०५)

इसलिये स्वामीजीने आवश्यक समझा कि जीव ईश्वर प्रकृति तीनोंका अनादि सत्य मानकर इन विरोधियों का खण्डन किया जाय और असत् (जैस्नी) से सत् हस्तीके उत्पन्न होने की असारता दिखादी जाय; अतएव प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध स्वामीजीने वर्त्तमान सत्यार्थ प्रकाश में यह द्वैतवाद उठाया है। और यह हमारा ख्याल बिल्कुल निराधार नहीं है स्वामीजी की विद्यमानता में एक नारायणदासके नामसे सुदर्शन प्रेस, मुरादाबाद का उर्दू में छपा हुआ एक नोटिस निकला है जो अब भी दयानन्दछलकपट दर्पणके पृ० २७० में उद्धृत है उसमें लिखा है कि स्वामीजी प्रथम एक ही ब्रह्मको सत्य मानते थे परन्तु मुन्शी इन्द्रमणि के कथनसे, उन्होंने जीव प्रकृतिको भी अनादि सत्य मान लिया। और ऐसाही आर्य दर्पण, पत्र ३१ मई सन् ८२ में छपा है यह सब जानते हैं कि मुन्शी इन्द्रमणि जी मुसलमानोंके विरुद्ध स्वामीजीसे पूर्वही लिख रहेथे जो पुस्तकें अब भी कहीं २ मिल जाती हैं, स्वामीजी और मुन्शी इन्द्रमणि साथ ही ईसाई मुसलमानोंका खण्डन करने केलिये मेला चान्दापुर में पहुंचे थे और यहींसे उन्होंने अपने सिद्धान्त अद्वैतवादसे रुख बदला है, नहीं तो इससे पूर्व आर्याभिविनय आदि में उन्होंने अद्वैतवाद ही लिखा है, जैसा कि हम पूर्व दिखा चुके। परन्तु यह ध्यान रहे कि जीव ईश्वर प्रकृति तीनोंको नित्य २ अनादि

तथा मुक्तिसे पुनरावृत्ति मानकर भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना सिद्धान्त हाथसे नहीं जाने दिया, ऐसा मानलेने से स्वा० शङ्कराचार्यके सिद्धान्त में तनक भी आंच नहीं लगती, स्वा० शङ्कराचार्य तो स्वयं लिखते हैं कि।

" नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोस्ति ( ब्र० सू० शा० भा० १ । १ । ४ ।) जिसने एकत्वके ज्ञान से द्वैत ज्ञान अर्थात् जीव ब्रह्मको भिन्नता को नष्ट कर दिया है उसका फिर जन्म नहीं होता। जब तक जीव माया ( प्रकृति ) और ईश्वर का भेद है तब तक मुक्ति प्राप्त होने पर भी लौटना पड़ेगा चाहे वह मुक्ति कितनेही समय केलिये क्यों न मिली हो 'जीव ईश्वर प्रकृति को अनादि मानना' यह सिद्धान्त स्वा०शङ्कराचार्यके विरुद्धतो तब होता जब स्वा०रामानुजाचार्य की तरह इन तीनोंको नित्यमानकर स्वामीजी मुक्ति को नित्य मान बैठते। और जब स्वा० शङ्कराचार्य की भांति द्वैत अवस्था में मुक्ति प्राप्त करके भी लौटना पड़ेगा तब तो यही कहना चाहिए कि यह स्वामीजी का सिद्धान्त स्वा० शङ्कराचार्य से एक सीढी पूर्वही है विरोधी नहीं और इसका अभिप्राय केवल यही है कि अब २ विरोधियों से शास्त्रार्थ करो एक सीढी पूर्व सेही करो क्योंकि उनको अभी इतनी विद्या नहीं है, और विवादसे अतिरिक्त मानो वही बात जो हमने आर्यसमाज के प्रथम और द्वितीय नियम में कहदी है।

स्वा०दयानन्दसरस्वती तो स्वा० शङ्कराचार्यके सिद्धान्तों को 'वेदमत' कहा करते थे। वे लिखते हैं कि। "सुन्धवा राजाने जैनियों के पण्डितों को दूर २ से बुला कर सभा कराई उसमें शङ्कराचार्यका "वेदमत" और जैनियों का वेदविरुद्ध मतथा अर्थात् शङ्कराचार्यका वेदमतका स्थापन और जैनियों का वेदका खण्डनथा। शास्त्रार्थ कई दिनों तक

तनत्वात् (वेदविरुद्ध मतखण्डन शता० पृ० ७८५)

अर्थात् "पुराण विद्या वेद मृतकके दशवें दिन श्रवण करे यहाँ पुराण शब्दसे ब्राह्मण लक्षण वेदोंकाही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सबसे अधिक वेदही पुराने हैं"।

यहाँ स्पष्ट ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद लिखा है।

(३) २. आवृत्ति सत्यार्थ प्रकाश में स्वामीजीने ब्राह्मण भाग वेद नहीं हो सकने यह कहीं नहीं लिखा, प्रत्युत प्रत्येक उपनिषद् वाक्य को जो ब्राह्मणों के अन्तर्गत माने जाते हैं श्रुति कह कर पुकारा है और गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य उसमें ही सामवेद आदि वेदों के नाम से लिखे हैं। जिस यह देखना हो वह प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश देखले।

(४) स्वामीजीने वैदिक संध्याविधि वेद और ब्राह्मण दोनों के ही मंत्रों के आधार पर बनाई है।

(५) स्वामीजीने वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम को वैदिक सिद्ध करते हुये (शतपथ का० १४ मुण्डक खं० २ मं० ११ ख० १।१० छान्दोग्य २२ आदि) ब्राह्मण ग्रन्थों केही वचन ऋग्वेद भाष्य भूमिका और सत्यार्थ प्रकाश में उद्धृत किये हैं इससे सिद्ध है कि स्वामीजी के खयाल में ब्राह्मण ग्रन्थों का दर्जा कोई वेदों से कम नहीं है, जो बात ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुकूल है वह वेदानुकूल ही है अन्यथा वानप्रस्थ संन्यासाश्रम आदि अनेक संस्कारों का वेदानुकूल सिद्ध करना ही कठिन होजायगा। किसी अन्य प्रकरणके मंत्र को लिखकर और ऊट पटांग अर्थ करके वानप्रस्थ आदि संस्कारों का सिद्ध कर लेना दुःसाध्यही है नहीं तो स्वामीजी स्वयं प्रमाण संहिता मंत्र क्यों न लिखते।

( ६ ) स्वामीजी का जो काशी में शास्त्रार्थ हुआ है उसके देखने से तो कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि स्वामीजी ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद नहीं मानते थे काशी के पण्डितों ने जब स्वा० से पूछा कि वेद में प्रतिमा शब्द है या नहीं तब उन्होंने कहा कि वेद में प्रतिमा शब्द तो है परन्तु उसका अर्थ और है पण्डितोंने कहा कि कोई मन्त्र बोलो जिससे प्रतिमा शब्द होवे तब स्वामीजीने षड्विंश ब्राह्मण ग्रन्थ का जो सामवेद का ब्राह्मण है मन्त्र पेश किया और कहा।

"देवतायतनानि कम्पन्ते देवतप्रतिमा हसन्तीत्यादि मन्त्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपितु ब्रह्मलोक विषय एव ( काशी शास्त्रार्थ शता० ८०३ ) अर्थात् देवताओं के स्थान काँपते हैं देवताओं की प्रतिमा हंसती है" इत्यादि मन्त्र में प्रतिमा शब्द है परन्तु यह मन्त्र मृत्युलोक के लिये नहीं किन्तु ब्रह्मलोक विषयक है।

अब विचारना चाहिये कि मन्त्र भाग को स्वामीजीने पेश नहीं किया और ब्राह्मण भाग को ही वेद के नाम से तथा मन्त्र कहकर पेश किया है। क्या इतने स्फुट प्रमाण के रहते हुये भी किसी निष्पक्ष आर्यसमाजी को ननु नच का मौका मिल सकता है।

( ७ ) फिर स्वामीजी कहते हैं कि।

"आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादि वचनं यथा वेदेषु दृश्यते तथा पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते ( काशी शा० पृ० ८०४ )।

अर्थात् "आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" ये वचन जैसे वेदों में मिलते हैं वैसे "पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन किसी वेद में नहीं मिलता, इससे पाषाणादि मूर्ति सिद्ध नहीं होसकती।

हुआ जैनियोंका मत यह था कि सृष्टिका कर्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं, यह जगत् और जीव अनादि है इन दोनोंकी उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता। इससे विरुद्ध शंकराचार्यका मतथा कि अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्ता है यह जगत् और जीव झूंठा है क्योंकि उस परमेश्वरने अपनी मायासे जगत् बनाया वही धारण और प्रलय करता है और यह जीव और प्रपञ्च स्वप्नवत् है परमेश्वर आपही सब जगत् रूप होकर लीला कर रहा है, बहुतदिन तक शास्त्रार्थ होता रहा परन्तु अन्त में युक्ति और प्रमाणसे जैनियोंका मत खण्डित और शङ्कराचार्य अखण्डित रहा (सत्यार्थ० स० ११ पृ० ३०३)जब इस प्रकारके जाज्वल्यमान प्रमाण स्वामीजी की लेखनीसे निकले हुए विद्यमान हैं, तब यह कैसे कोई बुद्धिमान् मनुष्य मान सकता है कि स्वामीजी स्वा० शङ्कराचार्य के अनुयायी नहीथे। अतएव उपसंहार रूपमें फिर यह कहदेना उचित है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने मुसलमान ईसाइयोंके खंडन के उपयोगी और अज्ञानी नई रोशनी वालों को समझाने मात्र केलिये जीव ईश्वर प्रकृतिकी नित्यता और मुक्तिसे पुनरावृत्ति पर जोर दिया है, यह उनका अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और न स्वा०शंकराचार्यके विरुद्ध है आशा है कि मर्मज्ञ मनुष्य विचार करके सत्यतत्त्व प्राप्त करेंगे।

स्वामी शङ्कराचार्यने वेद और ब्राह्मणको शब्द अर्थके नित्य सम्बन्धकी तरह एकही माना है, वेलिखते हैं।

"मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तं अविरोधात् (वृ० शां० भा० १।१।१५) अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों एकही मानने चाहिए क्योंकि इस प्रकार मानने सेही विरोधका अभाव रहता है। स्वामीजीने मन्त्र भागको ईश्वरकृत तथा ब्राह्मण ग्रन्थों

को ऋषिमुनि कृत माना है और उसका कारण यह है कि ब्राह्मण ग्रंथों में इतिहास है वेद ईश्वरीय शब्द तथा ज्ञान और ब्राह्मण ग्रंथ ईश्वरीय ज्ञान है जब परमात्माने शब्दद्वारा वेद सुना दिए तब उनका अर्थ भी कोई ऋषि परमात्माके बताये बिना कैसे जान सकता है। इससे परमात्माने वेदोंके अर्थ को भी ऋषियोंके भीतरही भीतर अन्तःकरणमें जनादिया, जब ऋषि मुनि उस अर्थ को लिखने लगे तो इतिहास भी साथही लिख गये, परन्तु ऐसा नई रोशनी वाले माननेमें हिचकिचाते हैं इससे स्वामीजीने दोनों वेद और ब्राह्मणोंको भिन्न २ मान लिया स्वामीजीने यजुर्वेद भाष्य पर जो विज्ञापन निकाला है जिसमें श्राद्धकी बाबत पुरानी सत्यार्थ प्रकाश में भूलसे छप जानेकी सूचना है उसमें वेदको ईश्वरका वाक्यही लिखाहै। "वेद ईश्वर का वाक्य होनेसे सर्वथा मुझको मान्य है" ( स्वा० दया० स० ) परन्तु आज कल आर्यसमाज वेदको ईश्वरका वाक्य न मानकर ज्ञानही मानता है, कुछ ही हो परन्तु स्वामीजी तो जो माना करतेथे उसको किसी न किसी प्रकार लिखही दिया करतेथे स्वामीजीने एक नोटिस कानपुर में निकाला है जो 'शोलेतूर प्रेस' में छपा है उसमें उन्होने जितने ग्रंथ प्रमाणमाने हैं उनके नाम लिखे हैं वे ग्रंथ कुल २१ हैं जिसमें ऋग्वेद मनुस्मृति, ज्योतिष का ग्रंथ भृगु संहिता तक तो प्रमाण में गिनादिये है परन्तु ब्राह्मण ग्रंथ नही गिनाये नोटिसमें ब्राह्मण ग्रंथोंके नाम न गिनाकर भी उन्होंने सत्यार्थप्रकाशादि सब ग्रंथोंमें उनके प्रमाण दिये हैं इससे प्रकट है कि वे ब्राह्मणग्रंथोंको वेदोंके अन्तर्गतनही मानतेथे।

(२) स्वामीजी भागवतआदि पुराणोंका खण्डन करते हुये लिखते हैं "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः इत्यत्र ब्राह्मणा वेदानामेव ग्रहणं नान्यस्येति सावधानात् सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरा-

अब यह जो "आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन हैं वे वेदों के नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं, और स्वामीजीने वेद के माने हैं। तब कहना होगा कि स्वामीजी ब्राह्मण भागको भी वेद ही मानते थे।

(८) "इतिहासः पुराणःपञ्चमोवेदानां वेदः"इस ब्राह्मण वचन को स्वामीजीने पेश किया और वेद का बताया तब पं० बामना चार्यने कहाकि यह पाठ वेदका नहीं है, इस पर स्वामीजीने कहाकि "यदि वेदेष्वयं पाठो न भवेत् चैन्ममपराजयो यद्ययं पाठो वेदे यथावद्भवेत् तदा भवतां पराजयश्चेयं प्रतिज्ञा लेख्या" ( काशी शास्त्रार्थ शा० पृ० ८०६ ) अर्थात् यदि यह पाठ वेदोंमें न होतो मेरा पराजय और यह पाठ ज्योंका त्यों वेदोंमें होवे तो तुम्हारा पराजय समझा जाय और यह प्रतिज्ञा लिखली जाय। अब आर्य समाजी बतावे यह पाठ किस मंत्र संहिता का है जो वे ब्राह्मण ग्रंथोंको वेद नहीं मानेंगे तो स्पष्ट ही उनकी पराजय कहावेगी, और जो आर्य बड़े प्रेमसे काशी विजयके गीत गाकर प्रसन्न होते हैं वेगीतआयन्दा को छोड़ देने होंगे, या ब्राह्मण ग्रंथोंको भी वेद मानना पड़ेगा, हमें अब देखना है कि आर्य समाजी स्वामीजी को परास्त मानेंगे या स्वामीजी की तरह ब्राह्मण भागको भी वेद मानने को उद्यत होंगे।

( ६ ) बाल शास्त्रीने शास्त्रार्थ में पूछा कि आप सब वेदानुकूल हीं को प्रमाण मानते होतो बताइये वेद में मनुस्मृति का मूल कहा है, इस पर स्वामीजीने उत्तर दिया कि।

"यद्वै किञ्चिद मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजताया इतिसामवेदे ( काशी शास्त्रार्थ पृ० ८०२ )

" जो कुछ मनुने कहा है वह भेषज की भी भेषज है, यह सामवेदमें लिखा है। अब फिर आर्यसमाजियोंसे पूछना है

कि यह वचन सामवेद में कहा है यदि वेदका नहीं तो स्वामी जीने मनुस्मृतिको वेदमूलक बताते हुए यह क्यों पेश किया इससे यातो ब्राह्मण ग्रंथोंको वेद मानना पड़ेगा अन्यथा मनुस्मृतिको वेदानुकूल सिद्ध न करसकनेके कारण स्वामीजी "प्रतिज्ञा विरोध" नामक निग्रह स्थानमें आकर पराजित समझे जावेंगे।

अब हम पाठकोंकी सेवामें एक नई बात कहना चाहते हैं कि वास्तवमें इस मंत्रमें मनु शब्द मनु ऋषिका बोधक नहीं किन्तु मंत्र भागका वाची है, इस लिये उपयुक्त गोपथ ब्राह्मण का वचन कह रहा कि जो कुछ मंत्र संहितामें कहा है वह औषधकी भी औषध है, यदि इसका अर्थ मनु महर्षि माने तो गोपथ ब्राह्मण से पूर्व मनुस्मृति की विद्यमानता हुई फिर गोपथसे पूर्वको जब मनुस्मृति स्वयं है, तो उसका गोपथके प्रशंसा करनेसे क्या महत्व होसकता है, और ब्राह्मण ग्रंथ पहले और स्मृति पीछेकी है, यह निर्विवाद क्रम नष्ट होजायगा।

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते (मनु०)

वेदके अर्थसे युक्त होनेसे मनुस्मृति का प्राधान्य है मन्वर्थ अर्थात् वेदके अर्थसे विपरीत स्मृतिकी मान्यता नहीं है। परन्तु स्वामीजीने यहां भी मनुका अर्थ मनुऋषिही किया है (सत्या० १४७ सन् १८७५) जो यहां मनुशब्द का अर्थ ऋषि करें माने तो कहना होगा कि मनुजी खुद अपने आप की प्रशंसा करते हैं अपने आप मियाँ मिट्ठू बननेसे कैसे प्रतिष्ठा हो सकती है। इससे इस स्थानमें भी मनुका वेदही अर्थ करना चाहिये मनुशब्दका मंत्र अर्थ है यह स्वामीजी को नहीं सूझ पड़ा। महीधरने अपने वेद भाष्यके प्रारम्भमें लिखा है कि—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्योवटमाधवीयम्
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय

लक्ष्मी नृसिंह गणेशको प्रणाम करके सायण और उवट भाष्यको देखकर यजुर्वेदके मन्त्रों का अर्थ परोपकार तथा अपने देखनेके लिये लिखता हूं' इस श्लोक में महीधरने मनु शब्द मन्त्रके अर्थमें प्रयोग किया है, और आज कल भी इस शब्दका प्रयोग प्रचलित है। जयपुरके प्रसिद्ध पंडित श्रीकृष्ण राम शास्त्रीने अपनी पुस्तक "सिद्ध भैषज्य मणि माला" के उत्तराध्यायमें मन्त्र वाची मनु शब्द का प्रयोग किया है। मनु शब्द का इस जगह कोई सनातनी तो ऋषि अर्थ कर भी सकता है। क्योंकि वे वेद में ईश्वर द्वारा भविष्य की कही गई बातें भी मानते हैं परन्तु जो ब्राह्मण ग्रन्थों को ऋषिमुनि कृत माने, वे कैसे ऐसा अर्थ कर सकते हैं। आशा है सहृदय पंडित इस हमारे अर्थ पर विचार करेंगे।

(१०) स्वामीजी लिखते हैं कि "ततो मनुष्याः अजायन्त" यह यजुर्वेद में लिखा है (सत्या० समु० ८ पृ० २३४) परन्तु यह यजुर्वेद के ब्राह्मण शत पथ का है, जिस प्रकार सनातनी शत पथके वाक्यों को यजुर्वेद कह कर लिखा करते हैं, वैसा ही स्वामीजीने किया है, परन्तु उनके अनुयायी नहीं मानते। किन्तु इस स्थान पर यह वचन यजुर्वेद के ब्राह्मण में लिखा है, ऐसा पाठ पञ्चमसंस्करणके पीछे बदल दिया है, और ऐसा ही काशीशास्त्रार्थ पुस्तक की भाषा बनाते समय जहां स्वामीजी ब्राह्मण वचन को वेद कहा है, वहां उसकी भाषा में ब्राह्मण ग्रंथ ऐसा अर्थ कर दिया है। स्वामीजी की मृत्युके अनन्तर इस प्रकार उनके ग्रंथों में परिवर्तन करते रहना आर्य समाज की नैतिक मृत्यु नहीं तो और क्या कह सकते हैं।

(११) स्वामीजीने ईश केन आदि दश उपनिषद् प्रमाण माने हैं इससे प्रगट होता है कि जो दर्जा ईश उपनिषद् का है वही केन आदि का है। क्योंकि ये उपनिषद सारेहीपरा विद्याके अन्तर्गत हैं जब ईश उपनिषद् यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय है तब उसकी प्रामाणिकता तो वेदोंके साथ हो चुकी, पुनः उसे उप निषदोंके साथ प्रामाणिकतामें क्यों कहा, इससे प्रगट है कि स्वामीजी पराविद्या कहलाने वाले उपनिषदों को एकही श्रेणी में मानते थे, चाहे वह उपनिषद् वेदमें आया हो या ब्राह्मणमें अन्यथा कोई कारण नहीं है कि जब उसका प्रमाणत्व वेदके साथ हो चुका तब उसको फिर उपनिषदोंके साथ गिनाते, इससे स्पष्ट है कि कर्मकाण्डात्मक वेद और ब्राह्मण को ज्ञानकाण्डात्मक वेद और ब्राह्मण जिन्हें उपनिषद् कहते हैं भिन्न ही मानते थे इन दोनों भाग कर्म और ज्ञान को अपरा और परा विद्याकहतेहैं। स्वामीजी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं और उन वेदों का लिखा जाना ऋषियों द्वारा माना है, जब ऋषि सृष्टि की आदिमें बिना ईश्वरके ज्ञान दिये वेद मन्त्र नहीं जान सकते थे तब उनका अर्थ भी बिना ईश्वरके बताये कैसे जान सकते हैं जैसे ईश्वर वेदमन्त्र ऋषियों को बतावेगा, उसही प्रकार उनका अर्थ भी तो साथही बताना पड़ेगा नहीं तो ऋषि अर्थ कैसे जान सकते हैं, इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थ भी ईश्वरीय ज्ञान मानने पड़ेंगे। इस विषय का अधिक विवेचन समय आया तो अपनी "वेदभाष्यभूमिका" में करेंगे।

अब मृतक श्राद्ध के विषय में स्वामीजीका क्या मत है इसका दिग्दर्शन करा देना चाहिये स्वामीजी लिखते हैं।

(१) मरे पित्रादिकोंके श्राद्ध और तर्पणसे क्या आया कि जीतेकी अवश्य सेवा करे।

(२) जब तर्पण और श्राद्ध करेगा तब उसके चित्तमें ज्ञान का सम्भव है कि जैसे ये मरगये वैसे मुझको भी मरना है जिस से धर्मसे प्रीति और अधर्मसे भय होगा।

(३) दाय भाग बांटनेमें सन्देह न होगा।

(४) विद्वानों को निमन्त्रण देकर जिमाने से मूर्खों की विद्या में प्रवृत्ति होगी

(५) श्राद्धके दिन ऋषि और पितृ संज्ञक विद्वानों से मनुष्य धर्म लाभ करेगा।

(६) वे लोग श्राद्ध करानेके लिये वेद कण्ठस्थ रखेंगे। इससे वेदका नाश नहीं होगा।

(७) ईश्वर की उपासना भी श्राद्ध तर्पण से होती रहेगी। पितादिकोंमें जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हों उनका तो अवश्य करें (सत्या० पृ०४८,४९ सन् १८७५

इतने हेतुओं के रहते कौन कह सकता है कि स्वामीजी इन अक्षरोंके लिखते समय मृतक श्राद्ध नहीं मानते थे। यद्यपि एक नोटिस निकालकर उपर्युक्त लेखका छपनेके दो बरस बाद खण्डन कर दिया था परन्तु इस खण्डनसे उनकी आन्तरिक श्रद्धा श्राद्धसे उठ गई थी यह कह देना बन नहीं सकता क्योंकि स्वामीजी लिखते हैं।

(२) हाथमें जल लेकर अपसव्य और दक्षिण मुख होके ओ पितरः शुन्धध्वम् (पा० का० २ कं० ६) इस मन्त्रसे जल भूमि पर छोड़कर सव्य होके अधो लिखित मन्त्र का जप करे (संस्कार० समा० १२६) कहिये क्या अपसव्य होके ही जीवित पितर जल लेते हैं और दक्षिण मुख करना भूमि पर जल छोड़ना जीवित पितरोंके लिये कैसे सम्भव हो सकता है। क्या जीवित पितर पृथिवीमें घुसे हैं और एक चुल्लू जलसे उनकी तृप्ति सम्भव है।

(३) जिस तिथि और नक्षत्रको बालकका जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेकर उस तिथि और उस नक्षत्रके देवता का नामसे चार आहुति देनी और अमावस्या तिथि तथा मघा नक्षत्रके देवता पितृ हैं (संस्कार० नाम०पृ० ६७) अब क्या अमावस्या तिथि तथा मघा नक्षत्रके देवता जीवित पितर होसकते हैं और जब दिव्य पितृही इनके देवता हैं और उनके लिये स्वामीजी आहुति दान दिलाते हैं तब कैसे होसकता है कि वे मृतक श्राद्ध नहीं मानते थे।

(४) ओं पितरःपितामहाः परेऽवरेत तास्ततामहा इदमावन्त्व स्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा । इदंपितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्यो ऽवरेभ्यस्ततामहेभ्यश्च इदं न मम (संस्कार०विवाह०पृ० १६०)

इस मन्त्रके यहां बोलने का अभिप्राय है कि इस मन्त्र द्वारा दी हुई आहुति पिता पितामह छोटे बड़े और ततामह अर्थात् परदादा के लिये हो 'इदंन मम" इसका मेरे लिये कोई स्वार्थ नहीं है अब क्या कोई आर्य समाजी कह देगा कि कोई ब्रह्मचारी या जीवित पितर इससे अभिप्रेत हैं। क्या जीवित को आहुति पहुंचेगी और ततामह किस कीसंज्ञा है और "इदंनमम" का क्या अभिप्राय है। तुम्हारे सिद्धांतमें अपना किया आपको मिलता है तो यह अपने किये को क्यों कह रहा है कि "इदं न मम" यह मेरे लिये नहीं है। चाहे कोई आर्यसमाजी इनवचनोंका स्वामीजीके अभिप्रायके विरुद्ध चूरा करनेका प्रयत्न करे परन्तु इन अधो-लिखित पंक्तियोंका उनके पास कोई उत्तर नहीं है।

"यदि वह (मृत मनुष्य) सम्पन्न हो तो अपने जीतेजी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्मप्रचार अनाथ पालन वेदोक्त धर्मोपदेशक प्रवृत्तिके लिये चाहे जितना धन

प्रदान करे बहुत अच्छी बात है(संस्कार० अन्त्येष्टि० पृ० ३१६)

किसी मनुष्यके मरे पीछे इन संस्थाओंको दान देनेका क्या अभिप्राय है, अभिप्राय स्पष्ट है कि ब्राह्मण भोजन न कराकर समयानुकूल संस्थाओं को दान देना पितृ तृप्ति का कारण है अथवा मृत आत्माको शांति प्रदान करने वाला और सद्गति देनेवाला है। आज कल आर्यसमाजमें मृत आत्माको शांतिके लिये जल्से करके परमात्मासे प्रार्थना भी की जाती है। अतः श्राद्ध खण्डनसे स्वामीजी का अभिप्राय यह नहीं है कि पुत्रादि द्वारा किया दान मृत पिताकी आत्माकी सद्गतिके लिये नहीं है, उनका तो यही अभिप्राय है कि ब्राह्मण भोजन को छोड़कर संस्था दान से पितृ श्राद्ध करो क्योंकि ब्राह्मण मुफ्तखोर होचुके हैं जाति की दुर्दशा है इससे मुफ्तखोरों से बचाकर दान देनेसे जातिकी रक्षा होना सम्भव है। और इससे जो पितृ आत्माको शांति होगी वह अक्षय होगी मुफ्तखोरोंके खिलानेसे श्राद्ध नहीं पहुंचता।

"सनातनधर्ममें एक सिद्धान्त है कि शूद्रको वेद पढनेका अधिकार नहीं है अतएव उसे उपनयन की भी आवश्यकता नहीं और न उसके हाथका खाना ही चाहिए। ऐसा क्यों माना गया इसकी उपपत्तितो हम आगे चलकर करेंगे, प्रथम यह देख लेना चाहिए कि इस विषय में स्वामी दयानन्दजी का क्या मत है। स्वामीजी लिखते हैं"

( १ ) "द्विज अपनी सन्तानों का उपनयन करके आचार्य कुल अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्रीशिक्षा और विद्या दान करने वालोंके यहां लड़के और लड़कियों को भेजदें और शूद्र आदि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास केलिये गुरुकुल भेजदें" (सत्या० द्वि० स० पृ० २६)

इस उपर्युक्त लेखके विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि स्पष्ट लिखा है, कि द्विजाति अपनी संतानको उप-

नयन कराके आचार्यकुल भेजें और शूद्र बिना उपनयन गुरुकुल भेजें जाय एवं इससे यह भी सूचित होता है कि द्विजातियों के पढ़नेके विद्यालयका नाम आचार्यकुल और शूद्रोंके विद्यालय का नाम गुरुकुल होना चाहिये।

( २ ) ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति राजन्यो द्वयस्य वैश्यो वैश्यस्यैवेति शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।

यह सुश्रुतके दूसरे अध्यायका वचन है ब्राह्मण तीनों वर्ण ( ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ) क्षत्रिय दोवर्ण ( क्षत्रियवैश्य ) वैश्य अपने वर्णको यज्ञोपवीत कराके पढा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षण युक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र संहिता छोड़के सब शास्त्र पढावे, शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे (सत्यां० समु० ३ पृ० ३६ )

यह भी स्वामीजीका स्पष्ट लेख है इससे इस परभी टीका टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं है स्वामीजीने प्रथम सत्यार्थ प्रकाश में तो कन्याओंके भी यज्ञोपवीतका निषेध लिखाथा।

' कन्या लोगोंको यज्ञोपवीत कभीन कराना चाहिए (सत्या० पृ० ३८ सन् ७५) परन्तु द्वितीयावृत्ति वर्तमान सत्यार्थ प्रकाशमें द्विज अपने घरमें लड़कोंका यज्ञोपवीत और कन्याओं काभी यथा योग्य संस्कार करके आचार्यकुलमें भेजदे ( सत्या० तृ० स० पृ० ३२ ) इस प्रकार यथा योग्य पद लिख कर गोल करदिया है।

इस प्रकार शूद्रको उपनयन तथा मंत्र संहिता पढने का निषेध स्वामीजीने लिखा है। और उसे आर्यसमाजका नियम तक बना दिया है, कि "वेदका पढना पढाना सुनना सुनाना सब आर्योंका परमधर्म है" यहां आर्य शब्दसे द्विजका ग्रहण होगा.

अन्यथा "मनुष्य" यह पद स्वामीजी लिखते। आर्य शब्दसे द्विजका ग्रहण होता है "उत शूद्रे उत आर्य (अथर्व १९।६२) इस मंत्रका अर्थ करते हुए स्वामीजीने स्वयं लिखा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य है" (सत्या० समु० ३ पृ० २३६ ) तब इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वामीजीका मत सनातनधर्मानुकूल सिद्ध होचुका, चाहे आर्य समाजी शूद्रों को उपनयन करावे या मंत्रसंहिता पढ़ावे परन्तु वह सब स्वामीजीके विरुद्ध ही समझना चाहिए। मंत्रसंहिताके पढ़नेका जो निषेध किया गया है यह शूद्रोंके साथ एक प्रकारका उपकार ही किया गया है, क्योंकि सेवा जैसे गहन कार्यका करना और फिर नियम पूर्वक वेद पढ़ना इन दोनों कठिन बातोंका एक स्थानमें होना दुःसाध्यही है। लोगोंका ख्याल है कि यह शूद्रों के साथ अन्याय किया गया था कि उनके कानमें वेदका शब्द पड़जाने पर उसमें गर्म शीशा भरवा दिया जाता था, परन्तु ऐसा नहीं है वेद मन्त्रोंका शूद्रके मुखसे उच्चारण करनेका कोई निषेध नहीं है।

"वृषोत्सर्गस्य वैदिकबहुमन्त्रसाध्यतया वेदोच्चारणानधिकृतस्य शूद्रस्य वृषोत्सर्गानाधिकारप्राप्तौ "कृष्णेनाप्यन्त्यजन्मन" इति शूद्रं प्रति वृषविशेषोपदेशेन वेदोच्चारणे अधिकारबोधना वृषोत्सर्गाधिकारो बोध्यते। वेदोच्चारणेन विना तत्करणक वृषोत्सर्गानधिकारे वृषविशेषकथनानर्थक्यापत्तेः" ( श्राद्धविवेक पृ० ९--१० )

अर्थात्—वृषोत्सर्ग बहुतसे वैदिक मंत्र बोलकर किया जाता है, और वेदके उच्चारणका शूद्रको अधिकार नहीं है, फिर कृष्ण वृष शूद्र छोड़े यह धर्म शास्त्रमें कैसे आता है इस वृष विशेषके छोड़नेका शूद्रको अधिकार होने से सिद्ध होगया कि

शूद्र वेद मंत्रोंका उच्चारण भी कर सकता है अन्यथा यह आज्ञा देना व्यर्थ होगाकि शूद्र कृष्ण वृष उत्सर्ग करे क्योंकि वृषोत्सर्ग तो बिना वेदमंत्रोंके हो नही सकता। इससे शूद्रको भी साधारण रीतिसे वेदका अधिकार है, ब्रह्मचर्यादिके कठिन नियमोंमें शूद्रका उलझाना ठीकनही है, जब शूद्र स्वयं वेद मंत्रोंका उच्चारण कर सकता है और ऐसा करना धर्म शास्त्रकी आज्ञाहै। तब शब्द मात्रके कानमें पड़तेही सीसा भरवादेना धर्मशास्त्र की आज्ञा कैसे होसकती है। जो शूद्र वेद पढ कर और अपने कर्त्तव्य कर्मको छोड़कर दूसरे के कर्म करना चाहेगा तो इससे समाजकी श्रृङ्खला टूट जायगी, इस लिए वह दण्डय होना ही चाहिए और समाजकी श्रृङ्खला तोड़ने वाला तो शूद्र ही क्या सबही दण्डनीय हैं। अतएव यह शंका लोगोंको धर्म के रहस्य न समझने से हुआ करती है।

आजकल शूद्रोंके हाथका भोजन करना चाहिए या नहीं इसकी बड़ी चर्चा है इसलिये आवश्यक है इस परभी स्वामी जीका मत प्रकट किया जाय, क्योंकि बहुतसे आर्य समाजी इस विषयमें सनातनियोंसे प्रतिकूल दृष्टिआते हैं। स्वामीजी लिखते हैं।

"(प्रश्न) कहोजी मनुष्यमात्र के हाथकी की हुई रसोईके खाने में क्या दोष है क्योंकि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त के शरीर हाड मांस चमड़े के है, और जैसा रुधिर ब्राह्मणके शरीर में है, वैसाही चाण्डाल आदिके। पुनः मनुष्य मात्रके हाथकी पकी हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है (उत्तर) दोष है क्योंकि जिन उत्तम पदार्थोंके खाने पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोषरहित रजवीर्य उत्पन्न होता है। वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं, क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि

वर्णोंका नहीं, इस लिये ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णोंके हाथ का खाना और चाण्डालादि नोच भंगी चमार आदिका न खाना। भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़ेका शरीर माता सास बहन कन्या पुत्रवधूका है वैसाही अपनी स्त्रीका भी है तो क्या माता आदि स्त्रियों केसाथ भी स्वस्त्रीके समान वर्तोगे, तब तुमको संकुचित होकर चुपही रहना पड़ेगा, जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुखसे खाया जाता है वैसे दुर्गन्ध भी खाया जासकता है तो क्या मलादि भी खाओगे क्या ऐसा भी कोई होसकता है ( सत्यार्थ० समु १० पृ० २८३ )

स्वामीजीने यहां कितने जोरसे शूद्रके हाथके खानेका निषेध किया है और स्त्री और मलका दृष्टान्त देकर यह भी साफ कर दिया है, जैसे एक वार स्त्री होने पर वह बहन या माता नहीं होसकती तथा माता स्त्री नहीं होसकती इसी प्रकार जो एक वार शूद्र होचुका उसके हाथका भोजन भी निषिद्ध ही है।

ब्रह्म समाज का खण्डन करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि "ब्रह्म समाजियोंने अंग्रेज यवन अन्त्यजादिसे भी खाने पीनेका भेद नहीं रखा, इन्होंने यही समझा होगा कि खाने पीने और जाति भेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा परन्तु ऐसी बातोंसे सुधारतो कहां उलटा बिगाड़ होता है, जो तुम यह कहते होकि सबके हाथका खानेसे अंग्रेजों को उन्नति होती है यह तुम्हारी भूल है, क्योंकि मुसलमान अन्त्यज लोग सबके हाथका खाते हैं पुन उनकी उन्नति क्यों नहीं होती ( सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ३६८ )

"एक बार ब्रह्म समाजी कालि मोहनने स्वामीजी को भोजन का निमन्त्रण दिया, उन्होंने कहाकि आपका भोजन ग्रहण करने में मुझे केवल इतनाही संकोच है, कि आप लोगोंके यहां भंगी

भी भोजन करते हैं ( दयानन्द प्रकाश पृ० ३६७ ) इस प्रकार की अनेक घटना उनके जीवनमें विद्यमान है परन्तु आजकल तो अनेक आर्य सबके हाथका खानेमें कोई पाप नहीं समझते हैं। यह उनकी भूल है।

विधवा विवाहके सम्बन्धमें स्वामीजीके मतको टटोलनेसे पूर्व यह विचारना है कि इस सनातन धर्मियों का ही क्या सिद्धान्त है क्योंकि आजकल उनका अनुशीलन करने पर विदित होगा कि इस विषयमें उनका मतभेद हैं कोई सनातनी विधवा विवाहको अधर्म की भूल मानता है तो कोई इसे शास्त्र संमत तथा जातिके हितकी आधार शिला समझता है। स्वा० दयानन्दसे पूर्व ही प्रोफेसर ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने सनातन धर्ममें विधवा विवाहको आवाज उठाई पुस्तकें लिखी और अपने पुत्रका विवाह भी एक विधवाकेसाथ कर दिया महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी शास्त्री प्रोफेसर ओरेन्टिदल कालिज लाहौर ने निरुक्तमें आए हुए "विधवेव देवरं" ( ऋग्वेद ७। ८। १८। २ ) इस मंत्र पर टिप्पणी देते हुए लिखते हैं कि "पत्युश्च मृतस्य गतयो विधवानां प्रतिभान्ति तत्र पत्यौ प्रेते ब्रह्मचारिणी उत्तमा, ब्रह्मचर्यं स्थातु मसमर्था गति मनुगच्छन्ती मध्यमा, ब्रह्मचर्यपत्यनुगमनयोरसमर्था पुनर्भूत्व मङ्गीकुर्वती अधमा, पुनर्भूत्वमप्यनङ्गीकुर्वती व्यभिचारजात गर्भादि निस्सारयन्ती भ्रूणहत्यादि दोषाधिक्यात् अधमाधमा "एवं चतुर्विधासु विधवागतिषु तिस्रो गतिरुत्तमा मध्यमाधमा उपदिदेशायं मन्त्रः। नत्वधमाधमां चतुर्थीमिति।" ( निरुक्त भगवद् दुर्गाचार्य कृत टीका पृ० २२३ ) अर्थात् इस प्रकार विधवाओंकी चारगति है। एक पतिके मरने पर ब्रह्मचारिणी रहना उत्तम, दूसरे ब्रह्मचर्य न रख सकने पर सती होजाना मध्यम, और ब्रह्मचर्य तथा सती होने में असमर्थ होने पर पुन-

विवाह करलेना अधम, और चतुर्थी गति व्यभिचार और गर्भपात आदि करना अधमाधम है। इन चारगतियों में से प्रथम तीन का यह मन्त्र उपदेश कर रहा है, परन्तु चतुर्थ अधमाधम गति का सर्व सम्मत निषेध है। इसके अतिरिक्त महामन्त्री हिन्दू महासभा पं० नेकीरामजी शर्मा आज कल विधवा विवाह सनातन धर्म में प्रचलित करने के लिये भगीरथ प्रयत्न कररहे हैं। गौड़ ब्राह्मण महासभा के अनेक पंडित बहादुरगढ जि० रोहतक में विधवा विवाह के प्रस्ताव को पास भी करचुके हैं। जिसमें दिल्ली के प्रसिद्ध कार्य कर्ता स्व० पं० लक्ष्मीनारायण जी वैद्य भी सम्मिलित थे। कोई नगर नहीं जहां इस विषय के पक्ष में पण्डित नहो। इस दशा में स्वा० दयानन्द सरस्वती जी यदि विधवाविवाह के पक्ष में अपनी व्यवस्था दे दें तो यह कैसे कहा जासकता है, कि वे सनातन धर्मी नहीं हो सकते। परन्तु यह सुनकर आपको आश्चर्य होगाकि स्वामीजी का इस विषयमें वही मत है, जो प्राचीन ढर्रे के सनातन धर्मी का हो सकता है। आपलिखतेहैं।

"ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुषका पुनर्विवाह न होना चाहिए।

( प्रश्न ) पुनर्विवाह में क्या दोष है। ( उत्तर )

( १ ) स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होना, क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध करले।

( २ ) जब स्त्री या पुरुष पति व स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहे, तब प्रथम स्त्री या पतिके पदार्थों को उड़ा लेजाना, और उनके कुटुम्ब वालों का उनसे झगड़ा करना।

( ३ ) बहुतसे भद्रकुल का नाम व चिन्ह भी न रह कर उसके पदार्थ छिन्न भिन्न होजाना।

(४) पातिव्रत्य और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना, इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह कभी न होने चाहिए।

(प्रश्न) जब वंशच्छेदन हो जाय तबभी उसका कुल नष्ट हो-जायगा और स्त्री पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भ पातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे। इसलिये पुनर्विवाह होना अच्छा है।
(उत्तर) नहीं २, क्योंकि जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहें तो कोई उपद्रव नहोगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिये किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद लेलेंगे उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा' (सत्यार्थप्रकाश समु०४ पृ० ११४) इसउपर्युक्त लेख को देख कर कौनसा संकुचित सनातनधर्मी है। जो यह कह सके कि स्वामी दयानन्द का मत इस विषय में मेरे समान नहीं है।

अब केवल यही प्रश्न शेष है कि "जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनको अन्य स्त्री या पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए। (सत्यार्थ प्र० समु० ४ पृ० ११४) इस लेख से जब अक्षतयोनि का पुनर्विवाह स्वामीजी मानते हैं। तब कैसे कहाजा सकता है कि वे विधवा विवाह के विरोधी थे। परन्तु सूक्ष्म विचार करने से मालूम होजायगा कि यह कथन उनका पुनर्विवाह के लिये नहीं, किन्तु उन मनुष्यों को थामने के लिये है। जो विधवा विवाह के पक्षपाती हैं। नीति में कहा है।

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत्
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्

अर्थात जिस जिस का जैसा २ भाव हो उस २ भाव से ही बुद्धि मान उसके भीतर घुसकर मनुष्य को अपने मन के अनुकूल

बनावे । इसलिये उन्होंने ऐसा लिखकर भी यह लिख दिया है कि -

"जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में होजाय तब से उनके खान पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये कि जिससे उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययन रूपतपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमाकी कला के समान बढ़के थोड़ेही दिनों में पुष्ट होजाय। पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्धहो तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान पुरुष और स्त्रियों का यथा योग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन संस्कार विधि पुस्तकस्थ विधिके अनुसार सब कर्म करके मध्य रात्रि या दश बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहण पूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें। पुरुष वीर्य स्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है उसीके अनुसार दोनों करें। जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री पुरुष दोनोंस्थिर, नासिकाके सामने नासिका, नेत्रकेसामने नेत्र, अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्न चित्त रहैं, डिगे नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े, और स्त्री वीर्यप्राप्ति समय अपान वायुको ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थिति करे।" (सत्यार्थ० समु० ४ पृ० ९३)।

इस उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि जिस दिन कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो और गर्भाधान कराना चाहे उसी दिन संस्कार विधि से विवाह करके अर्धरात्रि के समय गर्भाधान करे। जब विवाह के दिन ही गर्भाधान करने की विधि

स्वामीजी ने लिखी है, फिर यह कैसे सम्भव है कि विवाह के अनंतर सिद्धान्त रूप से कोई स्त्री अक्षत योनि रहसके। जिसका पुनर्विवाह किया जावे। अतएव स्वामीजी का अक्षत-योनि स्त्री का पुनर्विवाह कहना विधवा विवाहके पक्षपातियोंका मन बहलाव मात्र है। और यह बात उन्हों ने सत्यार्थ प्रकाश में हो नहीं, संस्कार विधि में भी लिखी हैं।

"जब कन्या रजस्वला होकर पृ० ३६—३७ में लिखे प्रमाणे शुद्ध होजावे, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमें विवाह करने के लिये प्रथमही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये ( संस्कार० पृ० १४३ ) जब सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि दोनोंमें ही यह पाठ मिलता है तब स्वा० छुट्टनलाल मेरठी का इस पाठ को प्रक्षिप्त बताना सिद्ध करता है कि यह पाठ उनको खटकता है। और प्रकाश अखबार लाहौर के अपि अङ्क सं० ८४ में भी एक लेखकने संस्कारविधि की अशुद्धि बताते हुए इस पाठ को प्रक्षिप्त बताना चाहा है। परन्तु यह अनुचित चेष्टायें स्वा० के अभिप्राय को दबाने मात्र के लिये हैं। स्वामीजीने तो साफ लिखा है कि—

"द्विजों में स्त्री और पुरुष का एकही बार विवाह होना वेदादिशास्त्रों में लिखा है, द्वितीयबार नहीं (सत्यार्थ० समु० ४ पृ०)।

स्वामीजी के खयाल में कोई वेद मन्त्र विधवाविवाह पर एक नहीं है अन्यथा ऋग्वेदभाष्यभूमिका में उसे लिखकर प्रकट करते।

नियोग विषय पर स्वामीजीने बहुत जोर दिया है। परन्तु यह सिद्धान्त उन्होंने उन लोगोंके लिये स्वीकार किया मालूम होता है, जो व्यभिचारी हैं। स्वामीजी चाहते हैं कि चाहे कोई

व्यभिचारी या व्यभिचारिणी ही क्यों न हो, हिन्दू धर्म की सीमा से बाहर न हो। जिससे हिन्दुओं की संख्या कम न हो सके। नियोग का रहस्य यद्यपि आर्यसमाजी यह बताते हैं कि नियोग विषय भोग के लिये नहीं हैं, किन्तु सन्तानोत्पत्ति के लिये है। जिससे किसीका कुलच्छेद न होसके। परन्तु स्वामीजी ने तो कुलच्छेद न होने का उपाय किसी के पुत्र को गोद लेलेना मात्र बताया है। (सत्यार्थ० प्र० समु० ४ पृ० १४४) और नियोग करने का कारण तो उन्होंने और ही लिखा है। "जोब्रह्मचर्य न रख सकेतो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले" (सत्यार्थ० समु० ४ पृ० ११५) अर्थात् ब्रह्मचर्य न रख सकने पर ही नियोग करे। आगे चलकर स्वामीजी लिखते हैं कि--

"(प्रश्न)" हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है (उत्तर) पाप तो नियोग के रोकने में है, क्योंकि ईश्वरकी सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता। क्या गर्भपातन रूप भ्रूण हत्या और विधवा स्त्री मृतस्त्रीक पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो। क्योंकि जब तक युवावस्था में है, मन में सन्तानोत्पत्ति विषय चाहना होने वालोंको किसी राज्य व्यवहार वा जाति व्यवहार से रुकावट होनेसे गुप्त २ कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं (सत्यार्थ० समु० ४पृ० ११६) स्वामीजीके इसलेखसंभी स्पष्ट है कि मृतस्त्रीक युवा या विधवा स्त्रियोंके महासन्ताप के मेटनेके लिये ही स्वामीजी ने यह नियोग की प्रथा प्रचलित की है। वे चाहते हैं कि नियोग के नाम से यह प्रथा जारी होजावे तो राज्य और जातिका भय न रहै। और गुप्त कुकर्म के बदले सब पुरुषों के समक्ष में यह कर्म होने लगजाय, और एक स्त्री दश सन्तान तथा ग्यारह पति तक करसकती है। दश सन्तान और ग्यारह

पति करने में तो स्त्री का आयु भर का संताप मिटजाना सम्भव है। इस प्रकार विषयी पुरुषों को भी समाज में स्थान मिलजाना सुलभ है। स्वामीजी लिखते हैं

"(प्रश्न) जब एक विवाह होगा एक पुरुष एक स्त्री और एक स्त्री का एक पुरुष रहेगा तब स्त्री गर्भवती स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घ रोगी हो, और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जावे, तो फिर क्या करे।

(उत्तर) इस का प्रत्युत्तर नियोग विषय में दे चुके, और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से वा दीर्घ रोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उस के लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे। परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें"। * (सत्यार्थ० समु० ४ पृ० १२१)

यह भी अद्भुत सम्मति है कि एक विवाह होने पर यदि स्त्री गर्भवती हो, और रहा न जाय तो नियोग करे व्यभिचार न करें। परन्तु व्यभिचार तो कहते ही इसको हैं कि जो रहा न जाय इसकारण अन्य पुरुष से सम्पर्क किया जाय। इन्द्रिय तृप्ति केलिये सम्भोग करलिया जाय और उसे व्यभिचार न कहें यह अद्भुत बात है।

बहुतों को खयाल है कि नियोग आपद्धर्म है। इसका अभिप्राय यही है कि आपत्ति में ऐसा किया जाय। परन्तु इस नियोग को जो आपत्ति अपेक्षित हैं, वह जब से आर्यसमाज का जन्म हुआ है तबसे न उसके किसी गृहस्थ सभासद पर आई है। और न भविष्य में किसी पर आने की आशंका है। तब यह सिद्धान्त केवल पाण्डु और धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर

---

* यह पाठ वर्तमान सत्यार्थप्रकाश का है और पंचमसंस्करण के बाद बदला गया है।

आदि पाण्डवों की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिये स्वीकार किया गया मालूम होता है। धर्माव में लाने के लिये नहीं। यदि ऐसा है तो कहना होगा कि यह सिद्धान्त भी स्वामीजी ने अपने खयाल के अनुसार सनातन धर्म पर होनेवाले आक्षेप को हटाने मात्र के ध्यान से ही स्वीकार किया है। आक्षेप करने वालों का खयाल है, कि जब विचित्रवीर्य का देहान्त होगया तब उसकी माता सत्यवतीने वेदव्यास को बुला कर उससे विचित्र वीर्य की स्त्री अम्बिका अम्बालिका और दासी में धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुरको उत्पन्न किया। और ऐसा करना व्यभिचार अतएव अनुचित है। परन्तु स्वामीजी का कहना है कि जब कुल नष्ट होरहाहो तब नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करा लेना कोई अनुचित बात नहीं प्रत्युत वेदसम्मत है। परन्तु महाभारत को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि धृतराष्ट्र पाण्डु तथा युधिष्ठरादि पांडवों की उत्पत्ति आक्षेप योग्यही नहीं है। फिर वहां नियोग द्वारा समाधान करनेकी आवश्यकता ही क्या है। महा भारत में लिखा है, कि विचित्रवीर्य एक भोगविलासी राजाथे। और अपनी नववधू अम्बिका अम्बालिका से अहर्निश संभोग में प्रवृत्त रहा करते। इसी कारण उन्हें "व्यवायशोष" रोग होगया।

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत

( महा० आदि० अ० १२० श्लो० ७० )

अर्थात्—उन दोनों रानियों केसाथ सात वर्ष तक रमण करते हुए तरुण राजा विचित्र वीर्य को यक्ष्मा रोगने पकड़लिया, और वे अकाल में ही चलबसे। उनकी माता सत्यवती को यह देख कर बड़ा दुःख हुआ कि विचित्र वीर्य की मृत्यु होचुकी,

और उस के कोई पुत्र नहीं है। उसने महर्षि वेदव्यास को बुला कर यह दुःख निवेदन किया। और भगवान् वेदव्यास ने अम्बिका अम्बालिका तथा दासी में धृतराष्ट्र पांडु तथा विदुर को उत्पन्न किया। तथा हि

" विचित्रवीर्य स्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तस्ततः सत्यवत्यचिंतयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजोदिति। सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास सतस्याः पुरतः स्थितः किं करवाणीति। सातमुवाच भ्राता तवानपत्यएव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति। स तथेत्युक्त्वा- त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास। धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरंचेति। तत्र धृतराष्ट्रस्यराज्ञः पुत्रशतं बभूव गान्धार्यां वरदानात् द्वैपायनस्य। ( महा० आदि० अ० ६६ श० ५२-५६ )

अर्थात्—विचित्रवीर्य विना संतान के मरगया सत्यवती ने विचारा, कि कहीं वंश नाश न होजाय। उसने वेदव्यास को मनसे याद किया उन्हों ने कहा क्या आज्ञा है। यह बोली कि तेरा भाई विना पुत्र मरगया है उसके पुत्र उत्पन्न कर। व्यासजी ने स्वीकार करलिया और तीन पुत्र धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर को उत्पन्न किया तथा धृतराष्ट्र के गान्धारी में वरदान से व्यास- जी ने शत ( अनेक ) पुत्र उत्पन्न किया इस उत्पत्ति का कोई यह अर्थ करता है, कि भगवान् वेदव्यास ने उन रानियों में अपने योगबल से गर्भ स्थापन किया और दूसरा पक्ष कहता है, कि इसप्रकार गर्भ रहना असम्भव तथा सृष्टि क्रम विरुद्ध है। अतएव व्यास ने नियुक्त होकर संभोग द्वारा ही संतान उत्पन्न की। परन्तु यह दोनों समाधान अपूर्ण अतएव त्याज्य है।

क्यों कि महाभारत में यहीं लिखा है, कि भगवान् वेदव्यास ने गांधारी में भी शत अनेकसो पुत्र उत्पन्न किये ।

जब यहां धृतराष्ट्र जीवितरहने के कारण यह कोई नहीं कहता, कि व्यासजीने गांधारी में नियोग द्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न किये । तब इसी प्रकार की उत्पत्तिसे कैसे कहाजा सकता है, कि अम्बिका तथा अम्बालिका में वेदव्यासने नियोग द्वारा संतानकी । "विचित्रवीर्य" अहर्निश अपनी स्त्रियोंसे सम्भोग में लगा रहता था । तब क्या यह असम्भव है, कि उनकी रानियां उसकी मृत्युके समय गर्भवती हों । किन्तु ऐसा न होना ही असम्भव है । क्योंकि तीन रानियां और अहर्निश संभोग करना, फिर क्या कारण है, कि एक को भी मृत्यु समय गर्भ न होसके । और जब तीनों रानियां तरुणथीं, और विचित्र वीर्यभी पूर्ण युवा था, तब यह सीधी बात है, कि तीनों रानियां गर्भवती होसके । परन्तु विचित्र वीर्यके मरने से उसकी माता सत्यवती को भय होगया, कि कहीं ये प्रथम गर्भ किसी कारण गिर न जावें । अथवा कन्यायें उत्पन्न न होजावें, रानियोंके विधवा होजानेसे फिर संतान होना कठिन है, अतएव आवश्यक है कि किसी मणि मंत्र ( योगबल) औषधि द्वारा दोनोंके पुत्र उत्पन्न कराये जावें । भगवान् वेदव्यास से अधिक उस समय कौन योग्य होसकता है । जो इस कार्य को सिद्ध कर सके । यदि नियोग होता तो क्या सम्भव है कि दोनोंके पुत्र ही उत्पन्न होते । और क्या नियोग पतिके ज्येष्ठ भ्राता से भी होसकता है । वेदव्यास विचित्रवीर्यके ज्येष्ठ भ्राता माने जाते थे । बालिका वध श्रीरामचन्द्रजी ने इसी लिए किया था, कि उसने अपने छोटे भाई की स्त्री को अपनी पत्नी बना लिया था । अब यह कहना होगा कि वेदव्यासने किसी

योग शक्तिया औषधि द्वारा विचित्रवीर्य के वीर्य से स्थापित हुए गर्भों में वरदान से पुत्रों की उत्पत्ति की। और ऐसा आज कल भी बहुत से वैद्य कर सकते हैं तब केवल विचित्र वीर्यके मरने के कारण किसी ने कुछ की कुछ कल्पना करली होतो इसका इलाज ही क्या है। किन्तु गांधारी में भी तो वेदव्यास ने पुत्र उत्पन्न किये हैं। उसे नियोग क्यों नहीं कहते हो। परन्तु वहां धृतराष्ट्र जीवित है। इससे किसी को शङ्का ही नहीं हुई। और विचित्र वीर्यके मर जानेके कारण मनुष्योंने अपनी २ बुद्धि के अनुसार कल्पना करना प्रारम्भ करदिया। उन कल्पनाओं को कविता बद्ध करके महाभारत में सौतिने लिख दिया होगा। राव० चिन्तामणि वैद्य ने महाभारतमीमांसा में २४००० हजार मूल भारत को एक लक्ष श्लोकात्मक महाभारत का स्वरूप देना सौति द्वाराही लिखा है। और कहा है "सारांश, अनेक अप्रबुद्ध परन्तु प्रचलित कथाओं को सौतिने महाभारत में पीछे से शामिल कर दिया। (महाभारत मीमांसा पृ० ३१) यदि राज्यासन शून्य होनेके कारण किसी पुत्रकी आवश्यकता भी थी। तब एक रानी द्वारा पुत्र उत्पन्न करालेना पर्याप्त था। फिर क्या कारण है, कि दासी तकसे नियोग किया जाता। और विदुर तककी उत्पत्ति की जाती। धृतराष्ट्र के उत्पन्नहोने से पूर्व ही उसके अन्धे उत्पन्न होने का वेद व्यास द्वारा जान लेने पर अम्बालिका से नियोग करके साथही पाण्डु उत्पन्न करना हृदय ग्राही उत्तर नहीं है। महाभारत मीमांसा पृ० ३१ में कहा है कि "इस प्रकार आगे होने वाली बातों का भविष्य कथन (पूर्व ही) करने कासौतिका प्रयत्न अनुचित है" अतएव वे

गर्भ ही तीनों रानियों के अनीव का पुत्र राजा विचित्र वीर्य कहे। और दोनों में ही योग बल से व्यासजीने पुत्र उत्पन्न किये। और इसी प्रकार युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को धर्म आदि देवताओंका अंशावतार कहा है।

धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम्
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम्
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि
नकुलस्सहदेवश्च सर्वभूत मनोहरौ ॥

( महा० आदि० अ० ६७ श्लो० १११-११३ )

हे राजन् धर्म [illegible] और अश्विनी कुमार के अंश से क्रम से युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल सहदेव को उत्पन्न हुआ जानो। परन्तु यथा अंशावतार होने से वे पाण्डु के वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र नहीं हैं। अंशावतार तो दुर्योधनादि अन्य योद्धा भी हैं अपितु जो २ महाभारत में उत्तम योद्धा लड़े हैं वे सब महाभारत आदि पर्व के अध्याय ६७ में किसी न किसी देवता या दैत्य के अंशावतार अवश्य हैं।

विप्रचित्ति दैत्य का अंश जरासंध, हिरण्यकशिपुका शिशुपाल, संह्लादका शल्य, कालनेमिका कंस, वर्चाका अभिमन्यु, विश्वेदेवा के द्रौपदी पुत्र, रुद्रगण का कृपाचार्य, आदि अंशावतार वर्णन किये हैं।

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः

( महा० आ० दि० अ० ६७ श्लो० ८५ )

कलि अर्थात् अधर्म के अंश से पृथिवी पर दुर्योधन उत्पन्न हुआ।

तथा भीष्मः शान्तनवो गंगायाममितद्युतिः
वसुवीर्यात्समभवत् महावीर्यो महायशाः
( महा० आदि० अ० ६३ श्लो० ६१ )

अर्थात्—महाबली भीष्म गङ्गा में वसुवीर्य से उत्पन्न हुआ इस श्लोक में तो " वसुवीर्य " यह स्पष्ट शब्द पड़ा है परन्तु फिर भी भीष्म वसुओं के वीर्य नहीं माने जाते हैं। वीर्य तो वे शान्तनु राजा के ही थे।

तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः
वैताने कर्मणि तते पावकात् समजायत
( महा० अ० ६३। श्लो० ६ )

अर्थात्—अग्नि के समान धृष्टद्युम्न भी यज्ञ में अग्नि से उत्पन्न हुआ। यहां अग्नि से उत्पन्न होना धृष्टद्युम्न का अग्निके वीर्य होने की दलील नहीं है।

जैसे उपर्युक्त महारथी अंशावतार होने पर भी उन २ देवताओं के वीर्य नहीं हैं किन्तु अपने २ पिता से उत्पन्न हैं। उसी प्रकार धर्म वायु और इन्द्र के युधिष्ठर भीम और अर्जुन तथा अश्विनी कुमार के नकुल सहदेव अंशावतार होने पर भी उनसे नियोग द्वारा उत्पन्न नहीं हैं। किसी मनुष्य से तो नियोग होना सम्भव भी है, परन्तु देवताओं शक्तियों का नियोग कैसे सम्भव होसकता है। अतएव अंशावतार का तात्पर्य केवल यही है, कि उन २ देवताओं के समान उत्तम २ गुण इन महारथियों में थे।

राजा पाण्डु एक दिन मृगया खेलने गये। वहां उन्हों ने अपनी हरिणी से सम्भोग करता हुआ एक हिरण बाण का

लक्ष्य बनाया। परन्तु उसके मरने से राजा का हृदय करुणार्द्र होगया, और उसी दिनसे उन्होंने शिकार खेलना छोड़ कर अपनी रानियों को साथ लेकर वनकी राहली। पञ्जाब के एक क्षत्रिय कुमारने भी इसी प्रकार एक गर्भवती हरिणी को मारा था। उसके बाणसे गर्भस्थ बच्चे के भी विंध जानेसे उसके करुणा होआई। और वह साधु होगया। जो पीछे चलकर सिक्ख इतिहास में "वीर वैरागी" या बन्दाबहादुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु थोड़े दिन पीछे ही राजा पाण्डु का निर्वेद शान्त हुआ। और ऋतुकाल में अपनी स्त्री कुन्ती और माद्री में समय २ हर पांच पुत्र वनमें ही उत्पन्न किये। कुन्ती देवताओंकी आराधना करना जानती थी। और जिस गुण विशिष्ट संतान उत्पन्न करना चाहती था करलेती थी। अतएव उसने जैसे २ गुण वाली संतान चाही वैसी उत्पन्न की। और ऐसा कर लेना कोई असम्भव नहीं है। पाण्डु की मृत्युके अनन्तर उन बच्चों और रानियोंको लेकर ऋषि मुनि नगरमें आये, और शङ्कित मनुष्यों का शङ्का मेटकर वनको चले गये। जब राजा पाण्डु जाते हैं। तब भी यदि उनके संतान उत्पन्न होती है, तो वह भी नियोग द्वारा बतायी जाती है। राजा पाण्डु की सम्भोग शक्ति का कोई ह्रास नहीं होगया था। वल्कि उनकी तो मृत्यु ही माद्री से सम्भोग करने के कारण हुई थी। ( महा० आदि० अ० ६६।६४ ), और अंशावतार होना उन देवताओं के वीर्य होने का दलील नहीं। क्योंकि सारे योद्धा ही महाभारत आदि पर्व अध्याय ५६।६७ में तक अंशावतार लिखे हैं। फिर उन्हें देवताओं के सम्भोग द्वारा उत्पन्न मानना जैसा अनुचित है। वे पाठक स्वयं विचार सकते हैं। इस लिये सारांश यही है कि

बन में पाण्डुने अपने वीर्य से पांच पुत्र उत्पन्न किये, उनकी रानियोंने जिस देवताके अनुसार पुत्र चाहा वैसा ही उत्पन्न किया। और स्वयं पाण्डु, धृतराष्ट्र, विदुर, अपने पिता विचित्र वीर्य की मृत्यु के समय महीनों के आगे पीछेसे गर्भ में थे। इस लिये इनको उत्पत्तिको धर्मानुसार सिद्ध करने केलिये नियोग सिद्ध करने का स्वामीजो ने प्रयास किया है, तो कहना होगा कि उन्होंने महाभारत के विचारने में शीघ्रता की। या कार्य बाहुल्य से विचार करना कठिन होगया। स्वामीजी ने लिखा है कि 'व्यासजीने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मरजाने पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियोंसे नियोग करके अम्बिका अम्बा में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुरकी उत्पत्तिकी ( सत्या० समु० ४ पृ० १२१ ) अब देखिये कि स्वामीजी को यह भी पता नहीं है, कि चित्रांगद पहले ही मरचुका था, यह रानी तो केवल विचित्र वीर्य की ही थी। इसके अतिरिक्त अम्बिका और अम्बा में धृतराष्ट्र की उत्पत्ति लिखी है। भला! दो स्त्रियों में एक बच्चा कैसे उत्पन्न हो सकता है। और अम्बा का विवाह तो विचित्र वीर्यसे हुआ ही नहीं था और न वह इसकी रानी ही थी। परन्तु तो भी आर्य राजाओं की उत्पत्ति के शास्त्र संगत लगाने की जो उनको सद्भावना है। उसकी प्रशंसा किये बिना कैसे रहा जासकता है। अतएव हमारी रायमें जुबानी जमाखर्च नियोगका सिद्धान्त स्वामी दयानन्द सरस्वती को सनातनधर्म की सीमासे बाहर करने केलिये पर्याप्त नहीं है। अतएव इस विषय को यहीं छोड़ कर आगे ईश्वर के अवतार के विषय में लिखा जावेगा।

ईश्वर का अवतार होता है, या नहीं यह एक जटिल प्रश्न है। और इसको सनातनधर्मकी सम्प्रदायोंने बुरी तरह उलझा

दिया है। आज कलके सनातनी पण्डित इसका रहस्य ही नहीं समझते। श्री स्वा० शङ्कराचार्य के मतमें एक ही ब्रह्म अनादि स्वतन्त्र पदार्थ है और जीव तथा माया (प्रकृति) उसकी विभूति या नाम रूप है। इस सिद्धान्त को "ब्रह्माद्वैत" या "केवलाद्वैत" कहते हैं। परन्तु श्रीस्वा० रामानुजाचार्यके मत में जीव ईश्वर, प्रकृति, तीनों अनादि स्वतन्त्र हैं। और इसका नाम उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' रख छोड़ा है। इसी प्रकार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में "द्वैताद्वैत" "शुद्धाद्वैत" आदि अनेक भेद हैं। तब इस दशामें अवतारवादके सिद्ध करनेके लिये भी अपने सिद्धान्त के अनुसार भिन्न २ युक्तिवाद अवलम्बन किया जाना चाहिए। परन्तु आज कल कोई भी विद्वान ऐसा नहीं करता। और प्रायः सबके सब इस विषय पर घपला खिचड़ी से बोलते हैं। श्री स्वा० रामानुजाचार्य आदि द्वैतवादियों की रीति से 'अवतार" का सिद्ध करलेना ही कठिन है। क्योंकि उनके मतमें जीवात्मा अणु परिच्छिन्न परमात्मा से भिन्न और स्वतन्त्र, तथा ईश्वर आकाश की भांति सर्व व्यापक है।

"जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे, कि गर्भ में आया वा मूंठी में धर लिया ऐसा कहना कभी सच नहीं होसकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता है, और न भीतरजाता है। वैसे ही अनन्त सर्व व्यापक परमात्माके होने से उसका आना जाना कभी सिद्ध नहीं होसकता। जाना आना वहां हो सकता है, जहां नहो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहींसे आया और बाहर नहीं था, जो भीतर से निकला। ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्या हीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा (सत्यार्थ० समु० पृ० २००)।

परन्तु जैसे महाकाश, मेघाकाश, मठाकाश, और घटाकाश, एक ही व्यापक आकाश के मेघ मठ और घट आदिकी उपाधि से अनेक नाम रूप होजाते हैं। उसी प्रकार श्री स्वा० शङ्कराचार्य के मत में एक ही ब्रह्मके माया तथा अविद्या की उपाधि से ईश्वर, देवता, अवतार, और जीव, ये भेद प्रतीत होने लगते हैं। सत्व गुण जब तक शुद्ध बना रहता है, उसे माया कहते हैं। और ज्यों ही वह मलिन हुआ अविद्या कहाती है। अविद्योपाधि के कारणही परमात्माका अंश जीवात्मा कहाता है। इसी तरह मायोपाधि वाले ईश्वर का आधिभूत अंशअवतार कहाता है। प्रारम्भमें ब्रह्मकी शक्ति माया सत्वगुणमयी ही होती है। तब ईश्वर, देवता, अवतार, आदि सतो गुणियों की उत्पत्ति स्वाभाविक ही है। पश्चात् ज्यों ही वह माया और रजोमिश्रित हो जाती है। त्यों ही अस्मदादि जीवोंकी उत्पत्ति होती है। अब जिसे अवतार स्थापन करना हो उसे आवश्यक है, कि वह मूल भूत सिद्धान्त "अद्वैतवाद" पर आक्षेपकरे। जो जीवात्मा को भी प्रकृति के गुणों से मुक्त होने पर ब्रह्म मानने को उद्यत हैं। उन असमेद्य शुद्धस्वरूप श्रीकृष्णादि के अवतार मानने वालों पर अनन्त आकाश की दलील कैसे लागू होसकती है। वेद में लिखा है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश
( ऋग्वेद ६।४।४७।१२ )

अर्थ — परमात्मा अपने रूपको प्रकट करने केलिये प्रत्येक रूपके प्रति वैसाही रूप धारण किये हुए हैं। जोकि इसके असंख्य रूप हैं। परमात्मा अपनी माया से अनेक रूपों को धारण करता है।

अग्नि यथैको भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
एवं तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च
( कठ० उ० वल्ली ५ मं० १० )

अर्थात्—एक अग्नि जैसे संसार भर में प्रविष्ट होरहा है। और प्रत्येक स्थान पर अपना प्रकाश करता है। उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक रूप होकर बाहर भीतर परि-पूर्ण होरहा है।

सम्भव है कि रामानुज सम्प्रदायी भी यह ही कहने लगें कि हमभी परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। और जैसे बिजली या अग्नि सर्व व्यापक होते हुए भी जिस किसी स्थानपर रगड़ खाती है, उत्पन्न होजाती है। उसी प्रकार परमात्मा भी जहां भक्त की रगड़ होती है, प्रकट होजाता है। परन्तु यह युक्ति तो अद्वैतवादियों की है। क्योंकि जब एक ही परमात्मा एक ही समय में श्रीराम, तथा परशुराम के भीतर लीला कर रहा है। वही परमात्मा श्रीकृष्ण, वेदव्यास, परशुराम, राम, के भीतर एककालावच्छेदेन विद्यमान है। तब इसही न्याय को उपयोग करते हुए यह क्यों न कहा जाय, कि यह ब्रह्म ब्रह्माण्ड भर में इसी प्रकार लीला कर रहा है। परमात्मा के धर्म जैसे माया उपाधियुक्त राम, कृष्ण, परशुराम में नहीं हैं, वैसे ही अविद्योपाधिविशिष्ट जीवात्मा में भी सृष्टि रचना आदि गुण चाहे न हो, परन्तु उपाधि नष्ट होने पर दोनों ही एक रूप हैं यह कैसे सम्भव होसकता है कि एकही परमात्मा राम, परशुराम, कृष्ण, और वेदव्यास, में, एक समय में अनेक रूप धारण करले। परन्तु जब जगत् भरका प्रश्न आवे तो उस युक्तिका त्याग कर दिया जाय। अविद्या और माया के भेदसे

जीवात्मा और अवतार में भेद रह सकता है। इससे सिद्ध है कि रामानुजमतावलम्बियों को भी अवतार सिद्ध करने के लिये एकही ईश्वर के शङ्कराचार्य की भांति अनेक रूप होना मानना पड़ता है। एवं अवतार और जीवात्माओं का मूलस्वरूप भी ब्रह्म ही मान लिया जाय तो कौनसी युक्ति विरुद्ध बात है। क्योंकि राम और कृष्ण आदि अवतारों आत्माओंका भी शरीर कोई मनुष्यों के भिन्न आकार का नहीं था। हम पीछे दिखा चुके हैं, कि श्रीस्वा० दयानन्द सरस्वती भी शंकर मतानुयायी हैं, अतएव उन्होंने अवतार के विषय में श्रीरामानुजाचार्य के ही मार्ग अर्थात् आकाश की भांति व्यापक होकर भी साक्षात् परमात्मा अवतार धारण करता है इस का ही खण्डन किया है, श्रीस्वा० शङ्कराचार्य का नहीं, स्वामीजी लिखते हैं।

" (प्रश्न) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

(भ० गी० ४।७)

श्री कृष्णजी कहते हैं, कि जब २ धर्म का लोप होता है। तब २ मैं शरीर धारण करता हूं। (उत्तर) यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा होसकता है, कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे, कि मैं युग २ में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं। (सत्यार्थ० समु० ७ पृ० १६६)

इस श्लोक के स्वामीजी ने दो अर्थ माने हैं एकतो वह जो अर्थ प्रश्न कर्ता को अभीष्ट है। परन्तु इस अर्थ को स्वामीजी वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य मानते हैं, परन्तु दूसरा अर्थ आपही करते हैं कि ऐसा होसकता है, कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और

धर्म की रक्षा करना चाहते थे, कि मैं युग २ में जन्म श्रेष्ठों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं। इस लेखके प्रथम भाग में यही आपत्ति है, कि ईश्वर आकाशकी भांति होने से अवतार नहीं लेसकता। परन्तु दूसरा भाग स्पष्ट है। श्री कृष्ण युग २ में श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों के नाश केलिये अवतार लेसकते हैं। युग प्रमाणकेलिये स्वामी जी लिखते हैं कि " सत्रहलाख अठाईस हजार बरसका सत्युग, बारहलाख छयानवे हजार का, त्रेता, आठलाख चौसठ हजार बरसका द्वापर, चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग होता है। ( ऋग्वेद भा० भू० पृ० २३ )

अब यदि स्वामी जी श्रीकृष्ण को जीवात्मा मानते तो फिर युग २ में ही श्रीकृष्ण का जन्म क्यों कर होता। क्योंकि जीवात्मा तो कर्मफलानुसार अवश होकर जन्मलेता रहता है। परन्तु जो संसार और धर्म की रक्षाके लिये आविर्भाव को प्राप्त होते हैं, वे कर्म फलों से मुक्त हैं। अतएव जब २ युगोंमें आवश्यकता होती है, तबही अवतार लेते हैं। अतएव स्वामीजी ने दोनों पक्षके सनातन धर्मियों के अवतार का अनुवाद करके एक का खण्डन और दूसरे स्वा० शङ्कराचार्य के सिद्धान्तानुकूल अवतार का मण्डन किया है। और यह बात नहीं है, कि यह स्वामीजी का लेख किसी आर्य समाजी को खटकता नहीं कि " श्रीकृष्ण युग २ में आता है " अतएव वे इसको इस प्रकार उलझाया करते हैं, कि गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं। "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" ( गीता ७।१७ ) अर्थात् ज्ञानी मेरीही आत्मा है। तब कृष्ण का यह कहना कि मैं आता हूं। इसका अर्थ है कि ज्ञानी आता है। परन्तु ऐसा संस्कृत नहीं जानने वालों को ही कह सकते हैं, क्योंकि वहां लिखा है कि—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
(गी० ७ । १६ १७)

अर्थात्— हे अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा मुझे भजते हैं । आर्त, जिज्ञासु, 'अर्थार्थी' तथा ज्ञानी, यद्यपि ये सब उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, यह सीधा अर्थ है यहां यह अर्थ कहां निकलता है, कि जहां जहां आत्मा शब्दका प्रयोग हो २ वहां आत्मा शब्दमें ज्ञानी समझो । क्या गीतामें आने वाले आत्मा शब्द का सर्वत्र ज्ञानी अर्थ करके कोई निर्वाह कर सकता है ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं सच मम प्रियः (गीता)

अर्थात् ज्ञानी को मैं प्रिय और ज्ञानी मेरा प्यारा है । अतएव उपर्युक्त श्लोक में यही अर्थ है, कि ज्ञानी मेराआत्मा अर्थात् प्रिय है । यदि आत्मा शब्द का ज्ञानी अर्थ कोई कर भी लेतो हमारी इस में कोई हानि नहीं है । क्योंकि हमारातो पक्ष ही यह है, कि जो आत्मा उसमें ज्ञानी हो वही अवतार है । इस लिये स्वामीजी के मतको व्यर्थ उलझा देने से क्या लाभ है, स्वामी दयानन्द सरस्वती को यदि अवतार वाद मूल में ही अस्वीकृत होता तो ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मूर्तिपूजा की तरह उसका भी खण्डन करते ।

बहुत आर्य पण्डितों का खयाल है कि ऋग्वेदभाष्यभूमिका के पृ० ३६ में "स्पर्यगात" इस मन्त्र में आये हुए "अकाय" पदका स्वामीजी ने अर्थ किया है ।

"एतत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्"

अर्थात् वह ब्रह्म स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है जब ईश्वर शरीर त्रय से रहित है, तो उसका अवतार कैसे हो सकता है, यहां स्वामीजी ने अवतार का खण्डन किया है। परन्तु यह भनसमझी है। क्योंकि यह मन्त्र ब्रह्म का निरूपण करता है, और इसका ऐसाही अर्थ स्वा० शङ्कराचार्यने किया है।

"अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थ अव्रणमक्षतं अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्नविद्यते इत्यस्नाविरम् अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः; शुद्धं निर्मलं अविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः"

( ईशोपनि० शा० भा० पृ० ११ )

अर्थात् आत्मा लिंग स्थूल कारण शरीर त्रय रहित है। जब शङ्कराचार्य भी इस मन्त्रका यही अर्थ करतेहैं, और गीताभाष्य आदि में अवतार मानते हैं। तब इस ब्रह्म के निरूपण करने वाले मंत्र से अवतार खण्डन नहीं होसकता। हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि ब्रह्मके तो कोई शरीर नही है। परन्तु उस निराकार और निर्गुण ब्रह्म का ज्योंही माया में आभास होता है, त्योंही ईश्वर देवता अवतार, जीवात्मा, आदि उपाधि कृत व्यवहार होने लग जाते हैं। परन्तु मूल में तो ब्रह्म निराकार ही है। जिस का वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में है। इसका स्वामीजी का निराकार परक अर्थ करने से अवतारवाद पर तनक भी आंच नही आती। स्वामीजीने स्वयं इस मंत्र को "वेद नित्यत्व" विषय में लिखा है। अवतारवादके खण्डन का इन्होंने भाष्य भूमिका में कोई प्रकरण ही नही उठाया। इस विवेचन से

पाठकों को विदित होगया होगा कि अवतारके विषय में स्वा० दयानन्द सरस्वती का शंकर मतसे कोई भिन्न मत नहीं है।

अब मूर्तिपूजा का सिद्धान्त अवशिष्ट हैं। जिसके खण्डन करने के कारण ही स्वा० दयानन्द सरस्वती विशेष कर सनाधर्मियों के कोपभाजन बने हैं परन्तु ऐसा केवल स्वा० दयानन्द सरस्वती ने ही तो नही किया है, बहुत से धर्म प्रचार होचुके, जिन्होंने मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया है। और वे सनातन धर्म मेंही सम्मिलित है। महात्मा कबीरदास को सब कोई जानते हैं। और उनका चलाया हुआ पन्थ भी जिसे "कबीर पन्थ" कहते हैं सनातनधर्म केही अन्तर्गत है। उन्होंने भी मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया है।

पत्थर पूजे हरि मिलें तो हमलें पूज पहाड़
आसे तो चक्की भली पीस खाय संसार
माई मसानी सेढ शीतला भैंरु भूत हनुमन्त
साहब से न्यारा रहे जो इनको पूजंत (कबीर)

॥ भजन ॥

सन्तो देखो जग बौराना।
सांच कहौं तो मारन धावे झूठे जग पतियाना
नेमी देखा धर्मी देखा प्रात करें असनाना।
आतम मारि पाषाणहि पूजें उनमें किछउ न ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना॥
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ गर्भ भुलाना।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो ई सब भरम भुलाना॥
केतिक कहो कहा नहीं मानें सहजे सहज समाना।
(बीजक शब्द २)।

इसके अतिरिक्त महात्मा कबीर के अनेक भजन हैं। जिन्हें अनेक सनातनधर्मी भी गाते हैं। जो कबीर पन्थी नहीं हैं।

ऐसोरी जनम जर जइयो जग में आय के ॥ऐसोरी जनम ॥
कंकर पत्थर पूजा कीनी ठाकुर बनाय के ।
वे नर अपनी काया भोगो लख चौरासी जाय के ॥ऐसो०॥

॥ भजन ॥

मन में ही दीनानाथ मन्दिर में काहे ढूंढत डोले ।
मूरत कोर धरी पत्थर की वो मुख से नहीं बोले ॥
करनी पार उतरनी बन्दे वृथा जन्म क्यों खोले ॥मनमेंही०॥

इसका अभिप्राय भी साफ है। कि मनमें ही अन्तर्यामी की उपासना करो। मन्दिर में ईश्वर नहीं है। वहां तो कोरी पत्थर की मूर्ति रखी है। जो मुख से बोलती तक नहीं। इसलिये वृथा क्यों भटकते फिरते हो। इन मूर्तियों के विश्वास में न रहो और जन्म व्यर्थ न गंवाओ कुछ सत्कार्य करोगे तो संसार से पार उतर जावोगे। महात्मा कबीरने केवल मूर्ति पूजा के विरुद्ध ही नहीं कहा है। किन्तु वर्तमान आर्यसमाज के जितने सिद्धान्त ईसाइयों के मुकाबिले के लिये स्वा० दयानन्द सरस्वतीने खोज निकाले हैं, वेही सिद्धान्त मुसलमानों से भिड़ने के लिये महात्मा कबीरने चुने थे। जहां दोनों आचार्य मूर्ति पूजा नहीं मानते। वहां श्राद्ध के विषय में भी दोनों का एक मत है। महात्मा कबीरने कहा है।

जीवित पितरों के जूते मारे, मरे पितरों के गङ्गा तारे ।
जीते पितरों का करें अपराध मरे पितरों का करें श्राद्ध ॥

जीते पितरों की पूंछी न बात, मरे पितरों को दूध और भात।
कहैं कबीर मुझे आवे हांसी, पितर न खावें कौआही खासी॥

विधवाविवाह कबीरपन्थ में आजकल भी प्रचलित है। गुण कर्म से ही उन्होंने वर्णव्यवस्था मानी है। कबीरजीने अनेक स्थानों पर लिखा है, कि एक बिन्दु से सबकी उत्पत्ति है इसमें कौन अच्छा तथा कौन बुरा है ईश्वर की सृष्टि में सब समान है।

"एक त्वचा हाड मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बिन्दु से सृष्टि रची है को ब्राह्मण को शूद्रा॥
(बीजक शब्द ७५)।

कबीरजी स्वयं जुलाहे थे, इससे गुण कर्म स्वभाव से वर्ण व्यवस्था मानना आवश्यक ही था। आचार की दृष्टि से कबीर पन्थ तथा आर्य समाज में कोई भेद नहीं है। और यही कारण है कि स्वा० दयानन्द सरस्वतीने कबीर पन्थ का कहीं खण्डन नहीं किया है। कबीरजी के चेलों के दोष यद्यपि सत्यार्थ प्रकाश में दिखाये हैं, कि वे खड़ाऊ चरण आदि को पूजा करते हैं। परन्तु शिष्यों की त्रुटि से महात्मा कबीर और स्वा० दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों में भेद नहीं हो सकता। यदि कोई भेद है तो वह अध्यात्मदृष्टि का है अर्थात् कबीर का उपदेश "अद्वैतवाद" और स्वा० दयानन्द सरस्वती का "द्वैतवाद" है। परन्तु हमने तो पीछे स्वा० दयानन्द सरस्वती का भी निजमत "अद्वैतवाद" ही दिखाया है। ऐसी दशा में एक को अर्थात् महात्मा कबीर को तो सनातनधर्मी स्वीकार कर लिया जाय, और स्वामी दयानन्द सरस्वती को सनातन-

धर्म की सीमा से बाहर निकाल दिया जाय, यह कैसे बुद्धिमत्ता की बात होसकती है। महात्मा कबीरने ही मूर्ति पूजा के विरुद्ध नहीं कहा है, श्रीगुरुनानकदेवने भी मूर्ति पूजा का खंडन करने में कोई बात उठा नहीं रखी है आप कहते हैं।

अन्धे गूंगे अन्ध अन्धार, पत्थर ले पूजे मगध गंवार।
आहो! जे आप डूबे, तुम्हें कहां तारन हार॥
( ग्रंथ सा० मं० १ )

घर में ठाकर नजर न आवे, गल में पाहन ले लटकावे।
भरमे भूला साकत फिरता, नीर बिरूजे खपरे मरता॥
जिस पाहन को ठाकुर कहता, वह पाहन ले इसे डूबता।
गुनहगार लून हरामी, पाहन नाव न पार गिरामी॥
( ग्रंथ सा० महो० ५ )

जो पाथर को कहते देव, उनकी वृथा होवे सेव।
न पाथर बोले न कुछ देय फोकट करम निफल है सेव॥
( ग्रंथ सा० महो० ५ )

इस प्रकार के मूर्ति पूजा के विरुद्ध गुरुनानकदेव के उद्गार हैं, परन्तु सनातनधर्मी उदासी निर्मले आदि सिक्ख साधु तथा अपने साधुओं से व्यवहार करने में कोई भेद ही नहीं रखते हैं। गुरुनानकदेव का उपदेश भी मुसलमानों के विरुद्ध था, अतएव उन्होंने भी कबीरपन्थ या आर्यसमाज के अनुसार ही अपने सिद्धान्त माने हैं, न मूर्ति पूजा है, और न श्राद्ध, गुण कर्म स्वभाव से ही वर्ण व्यवस्था मानते हैं, वे लिखते हैं।

ओ तू विरहमन विरहमनी जाया,
तो आन बाट करने नहीं आया।

तुम कत विरहमन हम कत शूद्र,
हम कत लोहू तुम कत दूद ॥
( ग्रंथ सा० )

विधवा विवाह भी सिक्खों में होता है। इस प्रकार आचार की दृष्टि से कबीर पन्थ सिक्खधर्म आर्यसमाज सब एक ही है, केवल आध्यात्मिक सिद्धान्त अद्वैतवाद का भेद है। परन्तु पिछले विवेचन से स्वा० दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त भी अद्वैतवाद दिखाया जा चुका है। फिर ग्रंथ सा० की पूजा या श्रीनानकदेव को बहुत बड़ा ईश्वर तुल्य मान लेने से ये आर्यसमाज से भिन्न नहीं हो सकते। आज कल स्वा० दयानन्द सरस्वती को भी राम, कृष्ण, वेदव्यास शङ्कराचार्य, आदि सबसे बड़ा मानता है और अपने २ आचार्यों को सबने यही दर्जा दे रखा है। परन्तु आचार्यों के पूज्य मानने से सिद्धान्त में कोई भिन्नता नहीं होसकती।

इसी प्रकार दादूजीने भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कहा है।

दादू जिन कंकर पत्थर सेविया, सो अपना मूल गंवाय।
अलख देव अन्तरि बसे क्या दूजी जागे जाय ॥
पत्थर पीवे धोय कर, पत्थर पूजे प्राण।
अन्तकाल पत्थर भये, बहु बूड़े इहि ज्ञान ॥
कंकर बध्या गांठड़ी, हीरे के वेसास।

अन्तकाल हरि जौहरी दादू सूत कपास ॥

( दादू जी की वाणी–सांच का अङ्ग पद-१३९-१४१ )

उपर्युक्त तीनों महात्मा जिन्हों ने मूर्ति पूजाका खण्डन किया है, अद्वैतवादी थे। अतएव आवश्यक है, कि इस विषय का अधिक विवेचन किया जाय कि जिससे यह प्रकट होसके कि अद्वैतमार्ग में मूर्तिपूजा कहां तक स्वीकार की गई है। इसका विवेचन लोकमान्य बालगंगाधर तिलकने इस प्रकार किया है।

"इस ( अद्वैत ) मार्ग में ध्यान करनेकेलिये जिस ब्रह्म स्वरूपका स्वीकार किया गया है। वह केवल अव्यक्त और बुद्धि गम्य अर्थात् ज्ञानगम्य होता है और उसीको प्रधानता दीजाती है। इस लिये इस क्रिया को भक्ति मार्ग न कह कर अध्यात्म विचार, अव्यक्तोपासना, या केवल उपासना, अथवा ज्ञान-मार्ग कहते हैं। और उपास्य ब्रह्मके सगुण रहने पर भी जब उसको अव्यक्त के बदले व्यक्त और विशेषतः मनुष्य देहधारी रूप स्वीकृत किया जाता है। तब वही भक्तिमार्ग कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि मार्ग दो हैं। तथापि उन दोनों में एक ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है। और अन्तमें एक ही सी साम्य-बुद्धि मनमें उत्पन्न होती है। इस लिये स्पष्ट देख पड़ेगा कि जिस प्रकार किसी छत पर जाने केलिये दो जीने होते हैं। इसी प्रकार भिन्न२ मनुष्योंकी योग्यताके अनुसार ये दो ( ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग ) अनादि सिद्ध भिन्न २ मार्ग हैं। इन मार्गोंकी भिन्नतासे अन्तिम साध्य अथवा ध्येय में कुछ भी भिन्नता नहीं होती। इस में एक जीने ( ज्ञान मार्ग ) की पहली सीढी बुद्धि है, तो दूसरे जीने ( भक्ति मार्ग ) की सीढी श्रद्धा और प्रेम है।

और किसी भी मार्ग से जावो, अन्त में एक ही परमेश्वर का एक ही प्रकार का ज्ञान होना है। एवं एक ही सी मुक्ति भी प्राप्त होती है। इस लिये दोनों मार्गों में यही सिद्धान्त स्थिर रहता है कि अनुभवात्मक ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं मिलता फिर यह व्यर्थ का बखेड़ा करनेसे क्या लाभ है, कि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, या भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। (गीता रहस्य पृ० ४१२)

इस कथनसे आपको मालूम होगया होगा कि शंकरमत में ज्ञानमार्ग है। और वैष्णव मतमें भक्तिमार्ग। शंकरमत या ज्ञानमार्ग में ईश्वर के अव्यक्त अर्थात् निराकारकी उपासना की जाती है और ये दोनों मार्गवाले परस्पर एक दूसरेसे झगड़ा किया करते हैं। लोकमान्य तिलक लिखते हैं, कि—

"प्राचीन उपनिषदों में ज्ञानमार्गवाही विचार किया गया है। और शांडिल्यसूत्रों में तथा भागवत आदि ग्रंथोंमें भक्तिमार्ग की ही महिमा गाई गई है। (गीता रहस्य पृ० ४१४)

"इसमें सन्देह नहीं कि कोई बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धिसे परब्रह्मके स्वरूपका निश्चय कर उसके अव्यक्त (निराकार) स्वरूप में केवल अपने विचारोंके बलसे अपने मनको स्थिर कर सकता है। (गीता रहस्य पृ० ४१२) और यही कारण है कि प्रखरबुद्धि शंकर, कबीर, नानक, दादू, दयानन्द, आदिने मूर्तिपूजा अर्थात् भक्ति मार्गको गौण माना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शङ्कर महानुयायियोंने बिलकुल व्यक्त उपासना छोड़ ही दी है। लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि "उपनिषदोंमें भी जहां २ ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन है। वहां प्राण, मन, इत्यादि निर्गुण और केवल अव्यक्त वस्तुओंका ही निर्देश न कर उनके साथ २ सूर्य, (आदित्य) अन्न, इत्यादि सगुण और

व्यक्त पदार्थों की उपासना भी कही गई है। (तै० ३।२६ छां०७ गीतारहस्य पृ० ४१५)

छांदोग्य उपनिषद् में प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, और बुडिल, इन पांच ऋषियोंकी एक कथा है। उसमें लिखा है कि ये ऋषि भिन्न २ रूपसे द्युलोक सूर्य, आकाश, और जल, के प्रतीकोंकी उपासना किया करते थे। राजा अश्वपतिने प्राचीनशाल आदिसे पूछाकि तुम किसीकी उपासना करते हो। उन्होंने क्रमसे उत्तर दिया कि—

दिवमेव भगवो राजन्।
आदित्यमेव भगवो राजन्॥
वायुमेव भगवो राजन्।
आकाश मेव भगवो राजन्॥
अपएव भगवो राजन्निति।
(छां० उत्त० प्र० ५ खं० २-६)

अर्थात्—हेराजन् हम द्युलोक आदित्य, (सूर्य) वायु, आकाश, जल, आदिके प्रतीकों की क्रमसे उपासना करते हैं। इस प्रकार अकृत्रिम अर्थात् ईश्वर रचित पदार्थोंके प्रतीकों की उपासना उपनिषदों में विद्यमान है। परन्तु ये प्रतीक परमात्मा नहीं मानी जाती। किन्तु परमात्माके ज्ञानका एक साधनमात्र समझे जाते हैं। लोकमान्यतिलकने कहा है कि "वेदान्त सूत्रों की नाईं (वेदान्तसूत्र ४। १। ४) गीता में भी यही स्पष्ट रीतिसे कहा है, कि प्रतीक एक प्रकारका साधन है। वह सत्य सर्व व्यापी नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता"। गी० र० ४२०)
'प्रत्येक, मनुष्य अपनी २ इच्छा और अधिकार के अनुसार

उपासनाके लिये किसी प्रतीक को स्वीकार करलेता है। परन्तु इस बातको नही भूलना चाहिए कि सत्य परमेश्वर इस प्रतीक मे नही है। ( न प्रतीके न हि सः (वे० सू० ४ । १ । ४ । ) उसके परे है * ( गीता रहस्य पृ० ४११ )

इस पहले विवेचनसे समझ मे आगया होगा कि उपनिषदोंमें उनही पदार्थोको प्रतीक बनाया हैं। जो ईश्वर रचित हैं। जैसे सूय, चन्द्रमा नक्षत्र, जल, वायु, अग्नि पृथिवी,

* नोट—जावली के राजासा० दुर्जन सिहजी इस लेख पर टिप्पणी देते हुए कहते है, कि—

"क्या श्रीभगवान् जिन्होंने इस गीताशास्त्रका उपदेश किया वस्तुतः स्वयं सत्य परमेश्वर नहा हैं। और उसके प्रतीक मात्र है। इतने कहे विना इस लेखको समाप्त करना प्रायश्चित्त रूप होगा, कि उस हृदय पर वज्र पड़े जिसमें ऐसे भाव भरे। और उस जिह्वा को विद्युत मारे जो ऐसे शब्दों का प्रयोग करे।

( गीता सिद्धान्त पृ० १६० )

इस लेखको देखकर हंसी आती है कि राजासा० ने इतना क्यों व्यर्थ जोर खरच किया है। यहां लोकमान्यके लेख में तो यह प्रकरण हो नही कि गीताके रचयिता श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा हैं या नही, यहां तो केवल इतना ही जिक्र हैं, कि श्रीकृष्णकी काष्ठ लोष्ठ मयी व्यक्त मूर्ति साक्षात् परमात्मा नही. किन्तु परमात्माके ज्ञानका साधनमात्र है। श्रीकृष्ण को तो लोकमान्यतिलक भी साक्षात् परमात्माका अवतार मानते हैं। ( गीता ४ । ८ ) बाततो सच यह है कि अभिमानवश महात्माओंके लेखपर प्रत्येकका लेखनी उठा लेना हिन्दु जाति का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए।

मन, अन्न, आदि। क्योंकि इन पदार्थों से ईश्वर की महिमाका ज्ञान होता है। अपने हाथसे रचना की हुई मूर्ति आदिका वर्णन उपनिषदोंमें नहीं है। नारदपञ्चरात्र भागवतादि वैष्णव ग्रंथोंमें है। सूर्य आदिकी उपासना स्वा० शङ्कराचार्यने अपने उपनिषद्भाष्यों में स्थान २ पर स्वीकार की है। अब देखना है कि इस प्रकारकी प्रतीकोपासना स्वा० दयानन्द सरस्वती मानते या नहीं।

( १ ) काशीशास्त्रार्थ में स्वा० विशुद्धानन्द सरस्वतीने स्वा० दयानन्दसरस्वतीसे मूर्तिपूजाके प्रकरण में प्रश्न किया था कि—

'मनोब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यंब्रह्मेत्युपासीतेति, यथा प्रतीकोपासनमुक्तं तथा शालग्रामपूजनमपि ग्राह्यम्।'
( काशीशास्त्रार्थ शता० पृष्ठ ८०४ )

अर्थात् मनको ब्रह्मका प्रतीक मान कर उपासना करो, आदित्य ( सूर्य ) को ब्रह्मका प्रतीक मानकर उपासना करो, यह वाक्य जैसे मन, सूर्य, आदिको प्रतीक बनाकर उपासना बताते हैं। उसी प्रकार शालग्राम को भी ब्रह्मका प्रतीक मानकर उपासना करना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए स्वामीजी कहते हैं

'यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादि वचनं वेदेषु दृश्यते। तथा पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापिवेदेषु न दृश्यते। पुनः कथं ग्राह्यं भवेत्
( का० शा० श० ८०४ )

जैसे मनको ब्रह्मका प्रतीक मान कर अथवा सूर्यको ब्रह्मका प्रतीक मानकर, उपासना करने की वेद में आज्ञा है। इसी

प्रकार पाषाणादि मूर्ति को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उपासना करो, ऐसा किसीभी वेदमें नही दिखाई पड़ता है। फिर पाषाणादि मूर्ति पूजा का कैसे ग्रहण किया जासकता है। अब कोई निष्पक्षपाती कहे बिना नहीं रह सकता, कि स्वामीजी मन या सूर्य को ब्रह्मका प्रतीक मानकर उपासना करना वेद प्रतिपाद्य मानते थे। और मनुष्य रचित पाषाणादि मूर्तियोंका ही वे विरोध करते थे

(२) "जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब बालक की माता लड़के का शुद्ध वस्त्र पहना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे। और बालक की माता दाहिनी ओर से लौटकर बाईं ओर आ अञ्जलिभर के चन्द्रमाके सन्मुख खड़ी रहके—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्
तदहं विद्वांस्तत्पश्यन्माहं पौत्रमघं रुदम्।

(मं० ब्रा० १।५।१३)

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जलको पृथिवी पर छोड़ देवे। और इसी प्रकार बालक का पिता इस मन्त्र को बोलकर अञ्जलि छोड़ देवे। (संस्कार वि० पृ० ७३)

इस लेख पर विचार करने से साफ प्रकट होजायगा कि स्वामीजी ने यहां चन्द्रमा को अञ्जलि दान कराई है। क्योंकि जिस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करना बताया है, उस मन्त्र का अर्थ है कि—

( यद् ) जो ( अदः ) यह ( पृथिव्याः ) पृथिवी की (कृष्णं) कृष्ण छाया ( चन्द्रमसि ) चन्द्रमा में (हृदयं) बीच में (श्रितम्) स्थित है ( तद् ) उसको (अहं) मैं (विद्वान्) जानता हूं इत्यादि—

अब विचारना चाहिए कि किस मन्त्र में स्तुति करना बताया है। उस मन्त्र में चन्द्रमा का वर्णन है। क्योंकि चन्द्रमा के बीच में जो कालिमा है वह पृथिवी की छाया है। महाकवि कालिदास ने कहा है कि—

"छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे नारोपिताः शुद्धिमतः प्रजाभिः ( रघु० सर्ग १४ )

अर्थात् शुद्ध चन्द्रमा में पृथिवी की छाया को लोगों ने कलङ्क समझ लिया है। इससे मानना पड़ेगा कि चन्द्रमा की प्रतीक द्वारा स्वामीजी ने परमात्मा की स्तुति कराई है। क्योंकि वेद में कहा है कि—

तदेवाग्निस्तदादित्यं तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः

तदेव शुक्रंतद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः

अर्थात् वही परमात्मा अग्नि और वही सूर्य है। वही वायु है, और वही चन्द्रमा। वही शुक्र, और वही ब्रह्म है। और वही जल, तथा वही प्रजापति है।

( ३ ) "जो मूर्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे तो, परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति, आदि अनेक पदार्थ जिनमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है। क्या ऐसी रचना युक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महामूर्तियें कि जिनसे मनुष्य कृत मूर्तियां बनती हैं। उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं होसकता। (सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ३२४ )

इस उपर्युक्त स्वामी जी के लेख से ही स्पष्ट है, कि जो स्मरण मात्र प्रयोजन के लिये मूर्त्तियां बनाते हैं तो मनुष्य कृत मूर्त्तियों से ईश्वर का स्मरण नहीं होसकता। परमेश्वर कृत पृथिवी, सूर्य, आदि के प्रतीक से उसका स्मरण ध्यान होसकता है, क्योंकि उनमें उस परमात्मा ने अद्भुत रचना की है। और उनसे उस परमात्मा की अलौकिक शक्ति का बोध होता है।

(४) संस्कारविधि गर्भाधान प्रकरण में —

"ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसी

त्यादि २० मन्त्रों से हवन लिखा है। और प्रत्येक मंत्र के अन्त में—इदं अग्नये इदन्नमम, इदं वायवे इदन्नमम, इदं चन्द्राय इदन्नमम, इदं सूर्याय इदन्नमम, इत्यादि वाक्य लिखे हैं। (संस्कार विधि पृ० ३९)

जिससे विदित है, कि यहां स्वामीजी ने हवन द्वारा अग्नि वायु, चन्द्र, सूर्य, आदि देवताओं की तृप्ति की है। यदि ऐसा नहीं है, तो येही पूर्व आदि नाम के मन्त्र क्यों बोलेगये। परमात्मा की स्तुति करने वाले तो और भी बहुत मन्त्र हैं। अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, इस स्थान पर परमात्मा के नाम हैं। ऐसा मर्मज्ञ पण्डित मान नहीं सकते। और यह हम पहिले लिख चुके कि सूर्य आदि परमात्मा न होकर भी उसकी प्राप्ति के साधन अर्थात् प्रतीक माने जाते हैं। क्या मन्त्रों द्वारा हवन करने से परमात्मा की तृप्ति होती है, इस प्रकार के अग्नि आदि का लक्ष्य करके बोले हुए मन्त्रों से संस्कारविधि भरी पड़ी।

(५) 'जिस तिथि या नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेकर उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से चार आहुति देनी अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवताओं के नाम घी को आहुति देवे जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो:—

ओं प्रतिपदे स्वाहा, ओं ब्रह्मणे स्वाहा ओं अश्विन्यै स्वाहा, ओं अश्विभ्यां स्वाहा (संस्कार वि० पृ० ६७)

यह लिखकर स्वामीजी ने नक्षत्र और तिथियों के देवता लिखे हैं। अब बताइये प्रतिपदा का देवता कौनसा ब्रह्मा है जो स्वामीजी ने माना है। और अश्विनी नक्षत्र के कौन से अश्विनी कुमार देवता हैं जो स्वामीजी ने आहुति देने के लिये बताये हैं।

(६) ओं वसवस्त्वा गायत्रेणच्छन्दसा भक्षयन्तु।
इस मंत्र से मधुपर्क में से पूर्व दिशा को।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु।
इस मन्त्र से दक्षिण दिशा में।

ओं आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु।
इस मन्त्र से पश्चिम दिशा में।

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु।
इससे उत्तर दिशा में।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि।
इस मन्त्र से ऊपर की ओर तीन बार फेंके (सं० वि० विवाह सं० १४८)।

इन मन्त्रों में वसु, रुद्र, आदित्य, आदि समस्त देवताओं के भक्षण के लिये मधुपर्क के इधर उधर छींटे दिये गये, जो इन मन्त्रों के अर्थों से स्पष्ट है क्या इस लेख के रहते हुए भी कोई कह सकता है, कि स्वामीजी देवतावाद नहीं मानते थे। और उनकी तृप्ति के लिये यह मधुपर्क दान नहीं है। पं० बालशास्त्री मुम्बईवाले जो शताब्दीसम्मेलन पर विद्वत्परिषद् के सभापति थे, उन्होंने अपनी वक्तता में इस लेखसे देवता तृप्ति मानकर इसी तरह मृतक श्राद्ध में पितर तृप्ति क्यों नहीं होती यह शङ्का की है।

( ७ ) ओं इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा, इदमग्नये, इदन्न मम।

इत्यादि मन्त्रों से थोड़ी २ धाणियां और शमी पत्र की आहुति प्रज्वलित इन्धन पर दें। (संस्कार विवा० पृ० १६८)

इस स्थान पर स्वामीजी ने अग्नि की पूजा कही है। मन्त्र का अर्थ देखिये।

यह कन्या धाणी हवन करती हुई प्रार्थना करती है कि मेरा पति आयुष्मान् हो। और मैं सन्तान युक्त होऊं और इसी प्रकार का अग्नि परक इससे पहिला और पिछला मन्त्र है कि "कन्या अग्निमयक्षत" अर्थात् कन्या अग्नि की पूजा करती है। पिछले मन्त्रका अर्थ है कि इन धान की खीलों को मैं अग्नि में हवन करती हूं। हे अग्ने! तुम मेरे और इस पति के सम्बन्ध को अनुमोदन करो।

आर्यसमाजी कह सकते हैं, कि यह अग्नि की पूजा नहीं किन्तु परमेश्वर से प्राथेना है। परन्तु हमारा भी तो यही

कथन है कि यहां अग्नि की प्रतीक द्वारा परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। हम पहले ही लिख चुके कि प्रतीक स्वयं परमेश्वर नहीं होता। वह तो परमेश्वर की पूजा का एक साधन मात्र है। इसी प्रकार यहां अग्नि की पूजा द्वारा परमेश्वर प्रार्थना है। नहीं तो कोई आर्यसमाजी नहीं बता सकता कि यहां शमीपत्र और धानी क्यों हवन की गई। हिन्दू (आर्यों) में प्राचीन रीति है कि राजा या देवता पर पुष्पों की भांति कन्या धान की खील बखेरा करती हैं। महाकवि कालिदास ने लिखा है।

आचारलाजैरिव पौरकन्याः ( रघुवंश सर्ग २ )।

नगर में कन्यायें राजा पर जिस प्रकार लाजा अर्थात् खील बखेरा करती हैं, उसी प्रकार वन में लतायें राजा दिलीप पर फूलों की वर्षा करने लगी। इसी तरह अग्निदेव को प्रत्यक्ष देखकर कन्या उसकी पूजा के लिये लाजाओं की वर्षा करती हैं। शमीपत्र की भी यही भाव है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकम् ( रघु० स० ३ )

अग्निगर्भां शमीमिव ( शकुन्तला ना० ४।३ )।

अर्थात् अग्नि जिसके भीतर रहती है, ऐसे शमीवृक्ष की तरह राजा ने अपनी रानी को गर्भवती देखा।

इस प्रकार सनातनधर्म में शमीवृक्ष अग्नि का निवास माना है, और अग्नि के आसन के निमित्त ही शमीपत्र हवन करना है। इस प्रकार भौतिक अग्नि के निमित्त ही लाजा और शमीपत्र हवन किया जाता है। परन्तु लाजाओं का अर्थ समाजी कोई सत्य अभिप्राय न बताकर ऊटपटाँग मारा

करते हैं, कि लाजा हवन करने का कन्या का यह अभिप्राय है कि हे पति ! मैं तेरे साथ लाजाओं की तरह हलकी रहूंगी, चक्की का पाट बन कर गले में नहीं लटकूंगी । हमें तो आश्चर्य हुआ करता है कि ऐसा तार्किक आर्यसमाज भी ऐसे मौकों पर अन्ध विश्वास करके कैसे इन अप्रामाणिक बातों को सुनता और मानता रहता हैं ।

(८) 'ओंतच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तादित्यादि मन्त्र को बोल कर वर और कन्या सूर्य का अवलोकन करें ।

(संस्कार० वि० पृ० १७२)।

इस मन्त्र में सूर्य की प्रतीक द्वारा वरवधू के १०० वर्षपर्यन्त जीवित रहने आदि की परमात्मा से प्रार्थना कीगई है । अन्यथा इसही मन्त्र को बोलकर सूर्य दर्शन से क्या प्रयोजन है इस मन्त्र का देवता भी सूर्य ही है। सनातनधर्मी भी तो इसी मन्त्र को बोलकर सूर्य दर्शन किया करते हैं । और यही मन्त्रपूर्व निष्क्रमणसंस्कार में सूर्य दर्शन करनेके लिये स्वामीजी ने प्रयुक्त दिया है (सं० वि० पृ० ७२) क्या अन्य कोई मन्त्र परमात्मा की प्रार्थना का नहीं हैं। जो इस समय बोला जासके बार बार इसने ही सूर्य दर्शन कराने का क्या प्रयोजन है।

(९) ओंअग्निर्भूतानामधिपतिः सभावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा, इदमग्नये इदन्न मम

इसी प्रकार प्रत्येक देवताका नाम बदल कर अन्य हवन मन्त्र लिखे हैं और जिनके अन्त में पूर्ववत् ये वाक्य है ।

'इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये इदं न मम

इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये- इदं न मम
इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये- इदं न मम
इदं सूर्याय दिवो अधिपतये इदं न मम
इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये- इदं न मम
इदं वरुणाय अपामधिपतये- इदं न मम
इदं समुद्राय स्रोतसामधिपतये इदं न मम
इदं इन्द्राय पशूनांपतये इदं न मम
इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये- इदं न मम
इदं मरुद्भयो गणानामधिपतये- इदं न मम

इत्यादि रीतिसे अभ्यातन होम करे। (संस्कार० विधा० १५७—१६०)

अब सोचना चाहिए कि यदि यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, रुद्र, आदि नाम ईश्वर के हैं तो चन्द्रमा के साथ "नक्षत्राणा मधिपतये" अर्थात् नक्षत्रों का पति, ऐसा ही क्यों लिखा। और सूर्य के साथ दिवोऽधिपतये अर्थात् दिनका पति ऐसा ही क्यों आया। और इसी प्रकार प्रत्येक देवताके साथ लिखा है। रुद्रके साथ मन्त्र में पशुपति शब्द पड़ा है। वरुण के साथ "अपामधिपतये" अर्थात् जलका पति शब्द है।

इससे मानना पड़ेगा कि प्रत्येक देवता की प्रतीक द्वारा स्वामीजीने यहाँ परमेश्वराराधन किया है।

( १० ) "इन मन्त्रों को पढ कर यज्ञकुण्ड की चार प्रदक्षिणा करे ( सं० वि० पृ० १६८ )

इस अग्नि परिक्रमाका भी आर्यसमाजी कोई तात्पर्य नहीं बता सकते, कोई २ आर्यपण्डित कहा करते हैं कि चार आश्रमों की द्योतक ये चार परिक्रमा है। तीन आश्रमों में तो स्त्री साथ रहती है। इससे कन्या परिक्रमा में आगे रहती है। और चतुर्थ आश्रम सन्यास में उसका त्याग है। इससे पीछे करदी जाती है। परन्तु ये सब अप्रामाणिक ढकोसले हैं। क्या ब्रह्मचर्य में भी स्त्री साथ होती है। और क्या सब ही वानप्रस्थी वन में स्त्री को साथ लेजाते हैं। ये तो अग्निकी परिक्रमा हैं। और सनातनधर्मी शास्त्रों में अग्निकी चार परिक्रमा लिखी हैं। प्रत्येक देवता की भिन्न २ संख्या में परिक्रमायें लिखी हैं।

( १० ) "प्रथम से जो जलके कलशको लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठाथा वह पुरुष उस पूर्व स्थापित जल कुम्भ को लेके वधूवर के समीप आवे और उसमेंसे थोडासा जल लेके वधू वरके मस्तक पर छिड़कावे और वर इन "आपो हिष्ठा मयो भुवः" इत्यादि चार ऋग्वेद के मन्त्रों को बोलें। ( सं० वि० वि० पृ० १७१ )

अब बताइये मार्जन किसलिये हैं, क्या वधूके लिये जलकी प्रतीक द्वारा परमेश्वर से आशीर्वाद ग्रहण नहीं कराया जारहा है। मन्त्रों में स्पष्ट जलवाची 'अप्' शब्द पड़ा हुआ है। जो अपका अर्थ परमात्मा करोगे तो दूसरा "अग्निमीडे आदि अग्नि वाची परमात्मा के मन्त्र जलसिञ्चनके समय क्यों नहीं बोल लेते हो। और इस सिञ्चन से लाभ हो क्या है। यदि वर वधू को आलस्य होगया है तो घड़ेके जलसे ही सिञ्चन क्यों कराया जाता है। दूसरा जल लेकर आलस्य मुक्तिकेलिये बिना मन्त्रोच्चारण छींटे लगा लेने चाहिए।

( ११ ) शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तुपीतये इत्यादि मन्त्रसे तीन आचमन करे। ( सं० वि० पृ० २२२ )

अब यदि "अप्" शब्द जलका वाची न मान कर ईश्वर का वाची मानते हो, तो यहां जलके आचमन के समय जलवाची शब्द काही मन्त्र, क्यों लिखा, क्या और मन्त्र नहीं थे। स्वामी जी जानते थे, कि कुतर्कियों के उत्तर के लिये ऐसा अर्थ करो, परन्तु मंत्रोच्चारण के समय तो जो मन्त्रका सत्य अर्थ है वह आपही उसका देवता या परमात्मा समझ लेगा, सनातन कर्म काण्डका लोप किसी प्रकार न होना चाहिये।

( १२ ) "पूर्वाभिमुख बैठके नीचे लिखे हुए मन्त्रोंसे प्रातः काल हवन करे।

ओं सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा इत्यादि।

सायंकाल नीचे लिखे मन्त्रों से हवन करे।

ओं अग्नि ज्योंति ज्योंति रग्निः स्वाहा इत्यादि

( सं० वि० २२४ )

यहां भी सूर्यऔर अग्नि द्वारा परमेश्वर की उपासना की है। क्योंकि प्रातः काल के हवन मंत्रों में सूर्य है, और सायङ्काल के मन्त्रोंमें अग्नि है। सिवाय इसके इस बातका और क्या तात्पर्य है, कि प्रातः काल सूर्य में प्रकाश रहता है। और रात्रिको वही प्रकाश अग्नि में चला जाता है। इसी लिये इन सूर्य और अग्नि का प्रातः सायं ग्रहण है। यहां हवन में मन्त्र केवल स्मरण रखनेके लिये बोले जाते हो; यह समझ में नहीं आता। क्योंकि मन्त्रोंके स्मरण केलिये तो और अनेक स्थान हो सकते थे। भौतिक पदार्थों केगुणों का वर्णन करनेके लिये भी मन्त्रों का उच्चारण

करना इस समय व्यर्थ है। हवन द्वारा परमात्माराधन करना ही स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य है। अन्यथा मन्त्रोंके कण्ठस्थ होजाने परभी उनका पिष्ट पेषण करते रहनेसे लाभ ही क्या है।

( १३ ) निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे।

ओं सानुगायेन्द्रायनमः इस से पूर्व
ओं सानुगाय य आपायनमः इससे दक्षिण
ओं सानुगाय वरुणाय नमः इससे पश्चिम
ओं सानुगाय सोमायनमः इससे उत्तर में

"अद्भ्योनम" इससे जलमें भागधरे (सं० वि० पृ० २२७) यहां भी जो पीछे लिख आये हैं वही दशा है। "अद्भ्योनमः" यह जलवाची शब्द कह कर जलमें भाग रखा गया है। इन्द्र की दिशा पूर्व है। इससे पूर्व में इन्द्र को और यम की दिशा दक्षिण होने से दक्षिण में यमको भाग रखा गया है। नहीं तो सनातनधर्मी ख्याल के विरुद्ध इन्द्रके साथ पश्चिम और वरुण केसाथ पूर्व आदि दिशायें क्यों न उलट पलट कीगई।

( १४ ) "ओं विष्णो र्दंष्ट्रोसि" मुण्डन संस्कार में उस्तरे की ओर देखकर कहे हेछुर ! तू विष्णु की दाढ़ है। पं० भीम सेनजी इटावे वालोंने "आर्यमत निराकरण प्रश्नावली" नामक पुस्तक में इस मन्त्र में मूर्तिपूजा की गन्ध बताई है। स्वामीजी लिखते हैं।

( १५ ) "जिन को तुम बुतपरस्त समझते हो, वे भी उन मूर्तियों को ईश्वर नहीं समझते किन्तु उसके सामने ईश्वर की भक्ति करते हैं। ( सत्यार्थ० समु० १४ पृ० ५६५ )

यहां स्वामीजी ने मुसलमानों को उत्तर देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि सनातनी मूर्ति को एक प्रतीक से अधिक कुछ नहीं समझते हैं। जो कि पहले हम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अक्षरों में दिखा चुके हैं। यह लेख स्वामीजी का शङ्कर मतसे मिलता है कि प्रत्येक परमेश्वर नहीं किन्तु उसकी प्राप्तिका साधन है। वैष्णवमत में ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है।

( १६ ) " एक दिन स्वामीजी व्याख्यान के अनन्तर कई राजा और पण्डितों सहित भ्रमण करने जारहे थे आगे ग्रामीण लोगोंका एक देवालय आगया। उस समय वहां छोटे २ बच्चे मिल जुल कर स्वच्छन्दता पूर्वक खेल कूद रहे थे। स्वामीजीने वहां एका एक शिर नीचा कर दिया और फिर आगे चल पड़े। एक साथी पण्डितने कहा, स्वामीजी प्रतिमा पूजन का खण्डन चाहे जितना करो पर देवस्थल का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है कि देवालय के सामने आपका मस्तक आप ही आप नीचा होगया। महाराज यह सुनते ही उन्हो पांव खड़े होगये और उन बालकों में एक चतुर्वर्षीया दिगम्बरा बालिका की ओर संकेत करके बोले देखते नहीं हो यह मातृ शक्ति है जिसने हम सबको जन्म प्रदान किया है ( दयानन्द प्र० पृ० ४३१ )

इस घटना से पता लगता है कि स्वामीजी की वर्तमान मूर्ति पूजामें भी आन्तरिक श्रद्धा थी अन्यथा देवालय को देखते ही मूर्ति को क्यों नमस्कार करते। स्वामीजी के अभिप्राय का सही समझने वाले शुष्क पण्डितने इसका झगड़ा खड़ा करदिया इसीलिये सद्योमति स्वामीने अपने शिष्यों को समझानेके लिये यह मातृशक्तिका पचड़ा खड़करना पड़ा। नहीं तो क्या अबतक अनेक स्थानों पर उन्होंने बच्चे खेलते नहीं देखेथे। परन्तु कहीं भी इस तरह मातृशक्तिको प्रणाम करना नहीं देखागया। मातृ

शक्ति के अतिरिक्त उन बच्चों में पितृशक्ति भी तो होगी, फिर स्वामीजी ने पितृ शक्ति को क्यों नहीं प्रमाण किया, क्या पितृ शक्ति प्रमाण्य नहीं है। हमारी सम्मति में तो इस प्रकार मातृ शक्ति को प्रमाण करना केवल हास्यास्पद है, तथा साधारण मनुष्यों का प्रतारण मात्र है। और यदि तुम ऐसा मानते हो तो नवरात्रों में कन्याओं को बुलाकर मातृशक्ति का क्यों नहीं पूजन करते हो।

जब इस प्रकार स्वामीजी के लेखसे जल, समुद्र आदि के प्रतीक मानना सिद्ध है, तब तीर्थ के विषय में भी स्वामी जी का मत आपही प्रकट होजाता है। क्योंकि तीर्थोंका रहस्य ही जल, पृथिवी, आदि की प्रतीकोपासना है। स्वामीजी ने तो अपनी आयुका अधिक भागही गंगातट पर बिताया था, और तो क्या वे गंगातट पर रहना धन्य समझते थे। आप जब काशी शास्त्रार्थ करने गये और शास्त्रार्थ के अनन्तर "काशी शास्त्रार्थ" नामक पुस्तक निकाली उसके प्रारम्भ में ही लिखा है।

"एको दिगम्बरः सत्यशास्त्रार्थं विद्यानन्दसरस्वती स्वामी गङ्गातटे विहरति ( का० शा० १ )

अर्थात्—एक दिगम्बर सत्य शास्त्रार्थ करने वाला-स्वा० दयानन्द सरस्वती गंगातटपर विचरण करता है।

स्वा०—दयानन्द सरस्वती यद्यपि सारे भारत में घूमा करतेथे, परन्तु जब शास्त्रार्थ की पुस्तक लिखने बैठे, तो अपनी प्रशंसा द्योतक गंगा तट अवश्य लिखा। गंगातट पदके लिखने में स्वामीजी की कोई ध्वनि है या नहीं इसे सहृदय कवि ही जान सकते हैं। साधारण पदोंके ज्ञान रखने वाले पण्डित की यहां गम्य ही नहीं है।

अब तक जितने वर्तमान आर्यसिद्धान्तों का ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है यदि उन सिद्धान्तों को जैसाका तैसा आर्यसमाज मानता रहे तो भी कोई कारण नहीं है कि वे वर्तमान सनातनधर्मसे पृथक् माना जावे। क्योंकि पीछे दिखाया जाचुका है कि आर्यसमाज के पास कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो आज कल सनातनधर्म की सम्प्रदायों में नहीं माना जा रहा हो। जीव ईश्वर प्रकृति, तीनों अनादि नित्य स्वतन्त्र, तथा १८ पुराणों का अप्रमाण, एवं शिवादि की मूर्ति पूजा का निषेध रामानुज सम्प्रदाय में माना गया है, तो कबीरपन्थ में श्राद्ध. तथा मूर्ति पूजाका निषेध है। इत्यादि बातें अन्वेषण करने पर सब सनातनधर्मकी सम्प्रदायों में मिलजायगी, परन्तु जिस सिद्धान्त के कारण ये सनातनधर्म से भिन्न माने जाते हैं वह है गुण-कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था अर्थात् चाण्डाल अन्त्यज आदि का ब्राह्मण आदि वर्णों में सम्मिलित होजाना। सिद्धान्त रूप से गुण कर्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाली सम्प्रदाय भी यद्यपि सनातनधर्म में सम्मिलित है। परन्तु या तो वह ग्रन्थों तक ही परिमित है उसका प्रचार द्विजाति में नहीं है, या उसने अपने सिद्धान्त का व्यवहार छोड़ दिया है। आर्यसमाज का यह प्रधान विषय है अतएव आवश्यक है कि इस विषयका विवेचन करके स्वामीजीका मत पाठकों के सन्मुख उपस्थित किया जाय।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वा० दयानन्द सरस्वती का जन्म ही एक ऐसे नाज़ुक समय में हुआ था जबकि हिन्दुजाति घोर अन्धकार में निमग्न थी। ब्राह्मण आदि वर्ण इतने मिथ्या अभिमान में फंस चुके थे कि चाहे कितना ही अपना प्यारा ईसाई ही भूल से ईसाई मुसलमान होजाय, और पीछे कितना

ही सत्य पश्चात्ताप करे, परन्तु उसके लिये हिन्दुधर्म का द्वार सदा के लिये बन्द कर दिया जाता था। अछूत लोग हिन्दु जाति के अत्याचारों से बिलबिला उठे थे। और वे ईसाइयों की ओर टकटकी लगाये हुए थे। ऐसी दशा में द्विजातियों से यह कहना बहुत ही कठिन था कि तुम अछूतों के साथ सहानुभूति करो, और अपने ही अंग भूत भाइयों को काट २ मत गिरावो। इस प्रकार तो थोड़े ही दिन में हिन्दु जाति नष्ट होजायगी। परन्तु वे तो अपने दुराग्रह से एक भी तिल हिलना स्वीकार नहीं कर सकते थे चाहे कुछ भी होजाय। अछूतों से तो यह कहा ही कैसे जा सकता था किन्तु तुम इसही दुरवस्था में पड़े सड़कर हिन्दु बने रहो, परन्तु ऐसे कराल समय में भी आर्य जाति तथा धर्म की रक्षा का वे जोड़ मार्ग ढूंढ निकालना स्वा० दयानन्द सरस्वती जैसे योगी का ही कार्य था।

स्वामीजी ने विचारा कि सर्व प्रथम हमारा यही कर्त्तव्य है कि सात करोड़ अछूत हिन्दुधर्म से निकलने न पावे और द्विजातियों में से भी कोई विधर्मी न बन सके।

परन्तु जो द्विजाति विदेशी चकाचौंध में फंसकर अभक्ष्य भक्षणादि करने में निःशङ्क हो चुके हैं। उन्हें रोका ही कैसे जावे। जाति उन्हें अपने में सम्मिलित रखना नहीं चाहती। अतएव आवश्यक है कि एक ऐसा समाज नियत किया जाय जिसमें पतित द्विजातियों के अतिरिक्त शूद्र और शुद्ध किये हुए विधर्मी भी सम्मिलित रहसके। उसका नाम स्वामीजी ने "आर्य समाज" रक्खा, जिसमें शूद्रों को भी गुणकर्मानुसार ब्राह्मण आदि वर्णों बनने का अवसर मिल गया और वे ईसाइयों के चुंगलसे निकल-आये। अब उन सरल सनातनियों

से पूछना है कि, इस प्रकार का एक समाज खड़ा करदेने से हिन्दू धर्म के लिए लाभ के सिवाय हानि ही क्या हुई। जब सनातनधर्म सार्वभौम (आलमगीर) धर्म है, तब अन्य धर्मावलम्बी यदि सनातनधर्म को स्वीकार करना चाहें तो किस वर्ण में सम्मिलित हो सकते हैं। सङ्कुचित विचारवाले सनातनधर्मी को भी कहना पड़ेगा कि सनातनधर्मानुसार विधर्मी शूद्र समुदाय में सम्मिलित किए जा सकते हैं।

काश्मीर के राजा पण्डितों ने भी 'रणबीर प्रकाश' नामक ग्रंथ में स्वा० दयानन्द सरस्वती के पूर्व ही यह व्यवस्था दी थी कि जन्मके ईसाई मुसलमान भी शुद्ध होकर शूद्रों में मिल सकते हैं। यथा —

"मूलतो म्लेच्छादीनां वा सत्यामिच्छायां नास्तिक्यत्यागेन भक्तिशास्त्र प्रत्यभिज्ञाशास्त्र राममन्त्राद्युपदेश्यताधिकारः। शूद्रकमलाकरोक्तसंस्कारप्राप्तिश्च सिध्यतीत्यत्र नकस्यचित् कटाक्षावसरः इति सकल श्रुतिस्मृति पुराणेतिहासादिनिर्गलितो विमर्शो निष्पक्षपातधीभिः सुधीभिर्निपुणं विचारणीयः ( रणबीर प्रकाश )।

अर्थात्, जो जन्म से ईसाई मुसलमान आदि चले आरहे हैं, उनकी भी इच्छा हो तो म्लेच्छता त्याग से भक्तिशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और राम मन्त्रादि में उनका अधिकार है, और शूद्रों के संस्कारों के भी वे अधिकारी हैं। इस बात में किसी को भी कटाक्ष करने का अवसर नहीं है। यह श्रुतिस्मृति पुराण इतिहास आदि का निचोड़ है। ऐसा पक्षपात रहित विद्वानों को जानना चाहिये।

जब इस प्रकार सनातनधर्मी विद्वत्समाज की व्यवस्था विद्यमान है। तब स्वा० दयानन्द सरस्वती का आर्यसमाज खड़ा कर देना सनातन धर्म का विरोध ही करता है।

बहुतों का खयाल होगा कि यदि आर्यसमाजी बहुत बढ़ गये तो मन्दिरों की मौत आजावेगी परन्तु जिन्होंने यह सोच लिया वे यह भी तो विचारें कि यदि ये सात करोड़ अछूत मुसलमानों में मिल गये तो क्या होगा, मन्दिर ही क्या हमें भी संसार में छोड़ेंगे या नहीं इसी में सन्देह है। स्वा० दयानन्द सरस्वती के धर्म में तो धोखे और बलात्कार से मूर्ति तोड़ना कहीं नहीं लिखा है—

किसी मनुष्य ने फर्रुखाबाद में स्वामीजी से कहा था कि यदि तुम अपने प्रेमी कलक्टर मजिस्ट्रेट से कह दो तो यह भ्रम का स्थान मन्दिर शहर की नापके समय यहां से हट जाय इसका जो उत्तर स्वामीजी ने दिया है वह स्वर्णाक्षरों में लिख लेना चाहिये। स्वामीजी ने कहा—

'ऐसी उलटी पट्टी मुझे न पढ़ाइये। ऐसे टेढ़े तिरछे मार्गों से किसी मत को हानि पहुंचाना अधर्म है। द्रोह नीचता, अनीति, और अन्याय, है। मुसलमान बादशाहों ने सैकड़ों मन्दिरों को मूर्तियां सहित मलियामेट कर दिया। परन्तु मूर्ति पूजा बन्द कराने में सफल न हो सके। हमारा काम तो मनुष्यों के मनोमन्दिरों से मूर्तियां निकालना है। न कि ईंट पत्थर के बने देवताओं को तोड़ना फोड़ना" (दयानन्द प्र० पृ० ३९९)।

इसके अतिरिक्त जब शताब्दी सम्मेलन पर कुछ मूर्ख आर्य लड़कों ने मूर्तियों का अपमान किया तो आर्य समाज

के सब से बड़े नेता स्वा० श्रद्धानन्दजी ने खुले अक्षर में इस काम की निन्दा करते हुये क्षमा याचना की थी। इसलिये आर्यसमाजियों से तो यह शङ्का नहीं है कि वे निधड़क मन्दिरों को तोड़ डालेंगे। परन्तु जो अपने को 'बुतशिकन" अर्थात् मूर्ति तोड़ने वाले कहलाने में धन्य समझते हैं। उनसे मन्दिरों के बचाने का को उपाय करना चाहते हो या नहीं।" न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी" क्या इस कहावत को चरितार्थ हो करके छोड़ोगे ! क्या इस कराल काल में भी परस्पर असंगठित रह कर जीवित रह सकोगे! हमतो अब आपका समय खराब न करके इस अखण्ड ताण्डव को यहीं समाप्त कर देना चाहते हैं, और स्वामीजी का गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानने का रहस्य बताकर यह दिखाना चाहते हैं कि वास्तव में स्वामीजी भी वर्णव्यवस्था सनातनधर्मानुकूल जन्म और कर्म दोनों से ही माना करते थे।

इससे प्रथम कि हम स्वामीजी का लेख पाठकों की सेवामें प्रस्तुत करें, एक महाभारत की घटनाका उल्लेख कर देना उचित समझते हैं। द्रौपदी के स्वयम्बर में यह शर्त थी कि जो कोई ऊपर लटकते और फिरते हुए मत्स्य को वेध देगा उसे द्रौपदी वर माला पहनावेगी। कर्ण उसको वेधने को खड़ा हुआ परन्तु वह सूत पुत्र था, द्रौपदी तथा क्षत्रियों ने कोलाहल मचा दियाकि यह क्षत्रिय नहीं है, इसलिये मत्स्य वेधने की आज्ञा नहीं दी जासकती, परन्तु कर्ण अपनेको गुणकर्मानुसार क्षत्रिय मानते थे इस लिये उन्होंने उत्तर दिया कि—

सूतो वा सूत पुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तन्तु पौरुषम् ॥
(वेणीसंहार नाटक)

अर्थात्—मैं सूत हूं या सूतपुत्र , कुछ भी हूं, कुल में जन्म लेना दैवाधीन है। परन्तु हमारे आधीन तो पौरुष है। अर्थात् तुम लोगों को हमारे पराक्रमसे जातिका निर्णय करना चाहिये इसी तरह गुणकर्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले स्वामीजी को भी समय पड़ने पर ऐसाही उत्तर देना चाहिए था, परन्तु वे ऐसा उत्तर न देकर कहते हैं। "हमसे बहुत लोग पूछते हैं आप ब्राह्मण हैं, हम कैसे जाने। आप अपने इष्ट मित्र भाई बन्धु के पत्र मंगा देवे अथवा किसी की पहचान बतावे, ऐसा कहते हैं, इसलिये अपना वृत्तान्त कहता हूं। गुजरात देश में दूसरे देशों की अपेक्षा मोह अधिक है। यदि मैं इष्ट मित्र भाई बन्धु की पहचान दूं, या व्यवहार करूं तो मुझे बड़ी उपाधि होगी, जिन उपाधियों से छूट गया हूं, वही उपाधि पीछे लग पड़ेगी, यही कारण है कि मैं पत्र मंगाने का यत्न नहीं करता, प्रथम दिन से ही जो मैंने लोगों को अपने पिता का नाम और अपने कुल का स्थान बताना अस्वीकार किया, इसका यही कारण है। कि मेरा कर्त्तव्य मुझे इस बात को आज्ञा नहीं देता यदि मेरा कोई सम्बन्धी मेरे इस वृत्त से परिचय पा लेता तो वह अवश्य मेरे ढूंढने का प्रयत्न करता, इस प्रकार उनमें से दोचार होने पर मेरा उनके साथ घर जाना आवश्यक होजाता, सुतरां एक बार पुनः मुझे धन हाथ में लेना पड़ता, अर्थात् गृहस्थ होजाता। उनकी सेवा शुश्रुषा भी मुझे योग्य होती। इस प्रकार उनके मोहमें पड़ कर सर्व सुधारकः वह उत्तम काम जिसके लिये मैंने अपना जीवन अर्पण किया है जो मेरा यथार्थ उद्देश्य है जिसके अर्थ, स्वजीवन बलिदान करने की किञ्चित् सोच नहीं की। और अपनी आयु को बिना मूल्य जाना और जिसके लिये मैंने अपना सब कुछ स्वाहा करना अपना मन्तव्य समझा है

अर्थात् देशका सुधार और धर्म का प्रचार वह देश पूर्ववत अन्धकार में पड़ा रह जाता।

धाङ्गध्रा करके गुजरात देश में एक राज स्थान है उसके सीमान्तवर्ती मच्छु काइटा नदी के तट पर मोरवी एक नगर है वहाँ १८८१ वि० में मेरा जन्म हुआ, मैं उदीच्य ब्राह्मण हूं, यद्यपि उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं, परन्तु मैंने शुक्ल यजुर्वेद पढ़ा था। (स्वकथित जीवन चरित पृ० १)।

अब विचारना चाहिये कि स्वामीजी ने इतना आल्हा गाया परन्तु यह नहीं कहा कि मेरे गुण कर्म से विचारलो कि मैं कौन हूं। मेरे सम्बन्धी मुझे यों पकड़ लेजाते मैं यों गृहस्थ हो जाता, यों मेरा उद्देश्य शेष रह जाता, और यों देश सुधार धर्म सुधार नहीं हो पाता, इत्यादि कारण बताकर सम्बन्धी जनों से पत्रादि मंगाने की मजबूरी तो इस वृद्धावस्था में भी प्रकट की परन्तु कर्ण के "सूतो वा सूतपुत्रो वा" इत्यादि श्लोक के अनुसार उत्तर फिर भी नहीं दिया। देखें कैसे चित्त में तो यह अभिलाषा घर किये हुए हैं कि जन्म से ब्राह्मण होने का महत्व किसीतरह मारा न जाय, अपनेको जन्मसे ब्राह्मण सूचित करने के लिये ही तो आपने यह व्याख्यान दिया है, जैसा कि इस लेख से प्रकट है।

"स्वा० दयानन्द सरस्वती को चाहे कोई कापड़ी कहे या वे कापड़ी हो हों, परन्तु हम तो उनको गुण कर्म के अनुसार ब्राह्मण ही मानेंगे" ऐसा चाहे स्वा० अनुभवानन्दजी अपने व्याख्यानों में कहते रहें, परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती ने तो यह उत्तर न देकर बड़े परिश्रम से अपने को जन्म से ब्राह्मण सिद्ध करनेका कष्ट उठाया है।

(२) ' शर्म ब्राह्मणस्य, वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य।'
अर्थात् देव ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त, और शूद्र हो तो देवदास, इत्यादि बालक का नाम धरे। ( संस्कार विधि पृ० ६८।६९ )।

यहां जन्म से ही वर्णों का भेद स्वामीजी ने माना है। यदि कोई बालक ब्राह्मण हो तो शर्मान्त, क्षत्रिय हो तो वर्मान्त, वैश्य हो तो गुप्तान्त, और शूद्र हो तो दासान्त नाम रखे। ये वर्ण भेद बालक में ही कैसे होगये।

अभी तो उसके कुछ भी गुण कर्म नही बदले हैं। शर्मान्त आदि नामतो आचार्य कुलमें रखने चाहिये थे। जहां गुण कर्मानुसार आचार्य विद्याध्ययन के अनन्तर ब्रह्मचारी को वर्ण प्रदान करता है।

(३) "अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यं आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य आचतुर्विंशात् वैश्यस्य. अत उर्ध्वं पतितसावित्रिका भवन्ति ( आश्व० गृह्यसूत्रम् )

अर्थात् जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहाहो उससे ८ वें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रियके, और जन्म वा गर्भसे बारहवें वर्ष में वैश्य के, बालका का यज्ञोपवीत करे। तथा ब्राह्मण के १६, क्षत्रिय के २२, और वैश्य के बालक को २४ वर्ष से पूर्व २ यज्ञोपवीत कराना चाहिये। यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत नहो तो ये पतित माने जावें। ( संस्कार० पृ० ८३ ) यहां भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में भेद रक्खा गया है। कि वे क्रम से ८

तथा ११ और बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत ग्रहण करें। यदि जन्म से वर्ण व्यवस्था स्वामी जी नहीं मानते थे, तो ऐसी व्यवस्था नहीं करते अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के पीछे जो कोई गुणकर्मानुसार शूद्र होजाता तो उसकी जनेऊ उतारने की व्यवस्था कर देते। स्वा० जी ने तो यहां तक लिखा है कि ब्राह्मण आदि वर्ण यज्ञोपवीत न लेने पर क्रम से १६। २२। २४ वर्ष पीछे पतित होजाते हैं और शूद्रों को यज्ञोपवीत का अधिकार नहीं है, और भी लिखा है।

" ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।

अर्थात्—जिनको शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म या गर्भ से पांचवे क्षत्रिय के छटे और वैश्य को आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें"। ( संस्कार विधि पृ० ८३ ) स्वामीजी ने यहां प्रत्येक वर्ण को शीघ्र उन्नति करने के लिये इस प्रकार यज्ञोपवीत ग्रहण करना बताया है, परन्तु शूद्र को आगे उन्नतिकेलिये भी यज्ञोपवीत धारण करना नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि अपने २ वर्ण के जन्मानुसार ही उन्नति करने केलिये यज्ञोपवीत लेनेका स्वामीजी ने विधान किया है।

( ५ ) " वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं सर्व कालमेके ( शत० ब्रा० ) ब्राह्मणका वसन्त क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्यका शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करे" ( संस्कार० वि० पृ० ८४ ) यहां भी जन्म से ही वर्ण भेदके अनुसार काल भेद किया गया है।

( ६ ) पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः आमिक्षाव्रतो वैश्यः ( शत० ब्रा० ) जिस दिन बालकका यज्ञोपवीत करना हो उससे तीनदिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को करना चाहिये । इन व्रतों में ब्राह्मण का एक बार वा अनेकवार दुग्धपान करे, क्षत्रियका लड़का यवागू ( खिचड़ी ) तथा वैश्य का लड़का शिखण्ड पीकर व्रत करे। ( संस्कार वि० पृ० ८४ ) यहां व्रतके भोजन में भी जन्मके वर्ण भेद से भेद किया गया है । क्योंकि अभी बच्चे के वर्ण का पता नहीं है कि किन वर्णों में गुणकर्मानुसार मिलाया जाय । इससे यह उपदेश जन्मसे वर्ण मानकरही किया जारहा है इसके अतिरिक्त व्रत करना जो सनातन धर्म का सिद्धान्त है, उसका भी स्वामीजीने साथ ही निर्देश कर दिया ।

( ७ ) स्वामीजीने अपने यजुर्वेद भाष्य में "नृत्याय सूतम्" इत्यादि मन्त्रका भाष्य करते हुए कहा है कि—,

"नाचनेके लिये क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुए सूत को उत्पन्न कीजिये । " ( यजुर्वेद ३० । ५)

क्या आर्य समाज में भी "भिन्न २ वर्ण" "माता पिताके" होने पर जन्म सेही वर्ण संकर उत्पन्न होसकता है । यदि ऐसा है तो कहना होगा कि बालक का जन्म समय में ही माता पिता के वर्ण से सम्बन्ध होजाता है । और स्वामीजी जन्मसे वर्ण व्यवस्था मानते थे, इसके सिद्ध करनेके लिये यह एक ही प्रमाण पर्याप्त है ।

( ८ ) स्वामीजी ने एक चिट्ठी चौबे कन्हैया लालको लिखी है कि "कायस्थ अम्बष्ठ है शूद्र नहीं" स्वामीजी ने यहां भी वर्ण जन्मसे ही माना है । क्या कोई भी कायस्थ शूद्र नहीं हो

सकता, और अम्बष्ठ तो ब्राह्मणसे वैश्या में जो उत्पन्न होता है उसे कहते हैं ( मनुः । १० । ८ ) क्या यह जन्म से वर्ण मानना नहीं है अन्यथा जन्म से कोई अम्बष्ठ आदि नहीं होने चाहिये। सब मनुष्यों का गुणकर्मसे वर्ण पीछे बनाना योग्य है। यह पत्र ला० मुन्शीरामजी ( स्वा० श्रद्धानन्दजी ) ने "ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार" नामक पुस्तक के पृ० ३८५ पर छापा है।

( ६ ) स्वामीजी से प्रश्न हुआ कि जब ब्राह्मण शूद्र सब का शरीर समान है, तब सब के हाथ का खाने में क्या दोष है। इसका उत्तर स्वामीजी ने दिया कि 'तुम्हारी स्त्री और माता का एकसा शरीर है फिर क्या स्त्री के समान माता या बहन से वर्तोगे शूद्रके अनुचित पदार्थ खानेसे उसके रजो वीर्य भी उत्तम नहीं होते और ब्राह्मण के सात्विक पदार्थ खाने से रजो वीर्य सात्विक उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होगया कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी के सात्विक रजोवीर्यसे ब्रह्मनिष्ठ उत्तम पुत्र होगा और असात्विक वीर्य से शूद्र धर्म वाली संतान उत्पन्न होगी। यह स्वामीजी का लेख इसी पुस्तक के पृ० में उल्लिखित है।

( १० ) एक बार किसी ने स्वामीजी से पूछा कि क्या उत्तम विदुषी नाई की लड़की का विवाह ब्राह्मण से होजाना चाहिये। इसका उत्तर उन्होंने दिया कि नहीं ऐसा करना ठीक नहीं है। यह घटना पं० लेखराम कृत स्वामीजी के उर्दू जीवन चरित में विद्यमान है। इसका ठीक पता तथा स्वामीजी के उत्तर के ठीक अक्षर हम इसलिये नहीं लिख सके कि वह पुस्तक हमें अभी नहीं मिली। समय आया तो अगले संस्करण में ठीक कर दिया जावेगा।

इस प्रकार जब पुराणानुकूल सारे सिद्धान्त स्वामीजी के लेख से सिद्ध होजाते हैं तो पुराण स्वामीजी माना करते थे

इसके लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहजाती। इसलिये हम सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में लिखी हुई पीढ़ियों को पुराणों से मिलान करके विस्तार भय से यहां नहीं लिखते हैं। स्वामीजी ने यह पीढ़ियां दो समाचार पत्रों से उतारी है, परन्तु उस समाचार पत्रके लेखकों ने वे कहांसे ली यह पाठक अनुमान कर सकते हैं। हम ऐसे हेतुवाद लिखकर भी पाठकों का समय व्यर्थ करना नहीं चाहते कि विवाह संस्कार में अरुन्धती दर्शन (स० वि० १७६) पौराणिक सिद्धान्त है। जिस तरह पातिव्रत्यके प्रभाव से वशिष्ठ ऋषिष्ठ के साथ २ अरुन्धती भी नक्षत्रता कोप्राप्त हुई, उसी प्रकार वधू को चाहिए कि पातिव्रत्य धारण करें। अन्यथा अरुन्धती दर्शन का उद्देश्य ही क्या हो सकता है। सम्भव है आर्यसमाजी कोई ऊंट पटांग कल्पना करलें, परन्तु अप्रामाणिक कल्पना का आदर नहीं होसकता। पुराणों के प्रक्षिप्त भाग से स्वामीजी सहमत नहीं थे, यह होसकता है।

अब तक सनातनधर्म और आर्यसमाज का जिन सिद्धान्तों में भेद था उनकाही दिग्दर्शन कराया गया है, परन्तु जिन सिद्धान्तों में कोई मतभेद नहीं है, वे यहां नहीं दिखाये गये और न उनका यहां दिखाना आवश्यक ही है यह सब जानते हैं कि जितने भी संसारमें अन्यमत जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, मुसलमान, आदि हैं, वे न तो वेद, उपनिषद्, गीता स्मृति, आदि ग्रन्थोंको ही प्रामाणिक मानते हैं. और न ऋषि, मुनि, पंचयज्ञ, षोडश संस्कार, गायत्री आदि मन्त्रोंका ही कुछ महत्व स्वीकार करते हैं। परन्तु आर्यसमाजसे ये ही क्या, करीब २ सारी बातें मिलती हैं, फिर मेरी समझ में नहीं आता कि बहुत से सनातनधर्मोपदेशक यह कहते क्यों नहीं लज्जित होते कि समाजियों

से समाज़ी अच्छे हैं। जहां स्वा० दयानन्द सरस्वती भी सनातनधर्मी थे वहां आर्यसमाज भी सनातनधर्मका ही एक अंग है। जो सनातनधर्मी आर्यसमाज को उजाड़ना चाहते हैं, या जो आर्यसमाजी सनातनधर्म को नाम शेष करने की चिन्ता में है. वे दोनों ही उस गुरुके उनहीं चेलों की तरह अज्ञानी हैं, जो एक गुरुके दोनों पैरों को परस्पर झगड़कर एक दूसरे पैर को पीटने लगे थे। हिन्दूजातिको नष्ट करने की शक्ति न तो ईसाइयोंमें ही है, और न मुसलमानों में। यह घर तो आज अपने घरके चिराग से ही जल रहा है। ईश्वर न करें यदि यह हिन्दुजाति कभी नष्ट होगई, तो इसका कारण भावी लेखक आर्य और सनातनियों की परस्पर की लड़ाई को ही लिखा करेंगे।

हमें शोक तो इस बात का है कि आदि सृष्टि से अपने धर्म को प्राचीन मानने वाले सनातनियों ने यह ठेका लेलिया है कि समयने चाहे कितने ही उलटफेर खाये हो परन्तु हमारी जाति में किसी भी कुरीतिने समावेश नहीं किया है। अतएव हमें न किसी सुधार की आवश्यकता है, और न कुछ सुधारकों की सुनना चाहते हैं। पक्षपाती मनुष्य चाहे ऐसा कहदे परन्तु जो सत्य की खोज के लिये भटकते हैं, उनके यहां ऐसी बातों का कुछ मूल्य नहीं है। कौन कह सकता है कि हमारी अयुक्त बातें भी सारी ही ठीक हैं और दूसरे की युक्तियुक्त भी अनुचित हैं। हमें जहां सनातनधर्मानुसार ठण्डे हृदय से अपनी बातों पर विचार करना चाहिये वहां दूसरों की बातों को भी सुन कर उनकी सत्यता पर दृष्टिपात करना योग्य है। कौन कह सकता है कि हमारे सिवाय दूसरों को सचाई सूझ ही नहीं सकती। यदि आजकल के समान सनातनी होते तो हमारे

यहां भगवान् बुद्ध को अवतार अथवा आचार्य पदवी प्राप्त होती इसमें सन्देह है।। हम तो सनातनधर्म का महत्व ही यह समझते हैं कि वह सबके धर्म पर स्वतन्त्रता और उदारता से विचार करता है। इस धर्म में जहां आचार की परतन्त्रता है वहां विचार की अनुपम स्वतन्त्रता मिली हुई है। आज जो संकुचितपन इस धर्म के अनुयायियों ने प्रकट कर रखा है उसे देखकर लज्जा से शिर नीचा होजाता है। कहां तो वह समय था कि जब वेद पर भी प्रश्न करने वाले ऋषि मुनि माने जाते थे। कौत्स मुनि ने वेद पर अनेक प्रश्न किये हैं। निरुक्त में लिखा है कि "अनर्थका हि मन्त्रा इति कौत्सः ( निरुक्त १।१५ ) अर्थात् मन्त्र अनर्थक होते हैं यह कौत्स का मत है। जिसका यास्काचार्य ने अपने निरुक्त अध्याय १ खण्ड १६ में खण्डन किया है, और कहां आजकल का कराल कलिकाल। कि जरा यह कह देने पर कि शास्त्रों में कन्योपनयन का विधान है, सनातनधर्म की वेदी से बाहर कर दिया जाता है। शुद्धि और अछूतोद्धार पर बोलने वाले पापी समझे जाते हैं। यदि किसी ने विधवा विवाह पर मुंह खोल दिया तो उस पर विधर्मी होने की पक्की छाप लग जाती है। हमने ऐसा तो मुसलमानों में ही सुना है कि जरा किसी ने स्वतन्त्रता से धर्म पर विचार प्रकट किये कि उस पर "कुफ्र" के फतवे निकल जाया करते हैं। यही हानिकारी भाव सनातनधर्म में भी कहां से शुरू होगया। हमारी सम्मति में तो इसका एक मात्र कारण वे निर्बुद्धि सम्पत्ति शाली हैं जो अपने संकुचित विचारों को द्रव्य द्वारा पण्डितों से सिद्ध कराया करते हैं। उन पण्डितों की तो चर्चा ही क्या है जो यजमान के अप्रसन्न हो जाने के डर से आत्म हत्या करते रहते हैं। जिस सनातनधर्म के सघन उपवन को

इस्लाम की चमकती हुई तलवार नहीं काटसकी, उसको आज हमारे अन्धे द्रव्य पात्र एवं स्वार्थी विद्वान् स्वयं श्मशान बना रहे हैं। आज श्रीकृष्ण की सन्तान काबुल में मुसलमान हो चुकी (राडराजस्थान भाग २ अध्याय ३) और सात करोड़ के करीब भारत की ऋषि सन्तान भी यवन मत स्वीकार कर चुकी है। करोड़ करीब ईसाई होगये और करोड़ों रु० अमेरिका आदि देशों से ईसाई बनाने के लिये आरहे हैं। यह सुनकर हृदय फटने लगता है कि प्रति मनुष्य एक रु० मिलने पर अनेक अछूतों को ईसाई बना देने वाले बहुत हिन्दू कुल कलङ्क हममें ही विद्यमान हैं। आज ब्राह्मणों ने धर्म को अपनी उदरदरी भरने का साधनमात्र समझ रखा है। ब्राह्मणों के पूर्वजों ने धर्म और वेद को अपना कोष समझा था, इसलिये उन्होंने धनके साधनों को स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु आज उनकी सन्तान साधन न रहने पर भी योग्य अयोग्य धर्म अधर्म सब मार्गों से धन कमाने की चिन्ता में निमग्न है। जरा कोई हिन्दू जाति के सुधार का ढंग प्रस्तुति करता है, और उसमें यदि ब्राह्मणों की उदर दरी का प्रश्न आजाता है, तो सब ब्राह्मण चीख और चिल्ला उठते हैं, और जाति की उन्नति के मार्ग को कण्टकाकीर्ण बना देते हैं। मुफ्त के दान मिलने से ब्राह्मणों में परस्पर फूट घर कर गई है जिसको मुफ्त का माल मिल जाता है तो दूसरे लालची ईर्षा वश उसके शत्रु बन जाते हैं। परिश्रम करके खाने वाली जाति में फूट नहीं पड़ती है। यह जाति केवलदान और भीख मांग कर पराश्रित रहने से मग्न है। साधु सम्प्रदाय की तो कथा ही क्या है, जो चोर व्यभिचारी हिंसक पाखण्डी ज्वारी आदि सब कुछ करने वाले मनुष्यों के छुपने की एकमात्र कन्दरा है। आज क्षत्रिय कुलतिलक नहीं

रहे। बड़े २ राजा महाराजाओं का खयाल ही यह है कि हम प्रजा के रक्त चूसने के लिये ही ईश्वरने राजा बनाये हैं। मांस मदिरा ही हमारा परमधर्म है और इन्द्र के समान परीस्तान बनाकर केलि करना ही हमारा अन्तिम पुरुषार्थ है। छोटे मोटे क्षत्रिय नशेकी पीनक में मस्त रहते हैं। क्षत्रियों की इस दुर्दशा से भारत धन्य क्षत्रिय ललनाओं के सतीत्व पर जो आ बनी है वह क्षत्रिय जाति से छुपी नहीं है। वैश्य जाति ने आज कल सबके सुधार का बीड़ा उठाया है। आप घृत में चरबी बेचकर धन इकट्ठा करें। दिवाले निकाल कर सबका रु० हजम कर जाय परन्तु सब वर्णोंके सुधारक बनने की लालसा बुरीतरह बेकरार कर रही है, चाहे कहीं विधवाओं की दुर्दशा हो, अनाथ बच्चे ईसाई मुसलमान होरहे, गायों के करुणा क्रन्दन से आकाश गूंज उठा हो. हिन्दु जातिकी नौका डूबरही हो, परन्तु उनका रु० उनके पेटमें ही जायगा जो खुशामदी टट्टू हैं। आज इनके अपात्र दानने बहुतसे लोगों को हरामखोर बना दिया है, मूर्ख रहना और नामपर रु० दान देना यह इनका स्वभाव बन गया है, परस्पर के दोषों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आपस में एक दूसरे की निंदा करने में तत्पर हैं। सारे देशके नाशका दोष एक दूसरे पर मढता है। इस आन्तरिक आगसे वर्णाश्रम धर्म बच नहीं सकता। शूद्रोंने अलग क्रान्ति करदी हैं। उन्हों में आज ईसाई मिश्नरियों के गुप्तदूत पहुंच चुके हैं। राज्याधिकार के लोभ में फंसे हुए इनके अनेक मनुष्य हिन्दुधर्म को छोड़ने केलिये सन्नद्ध है। इन्हें यह ध्यान नहीं है कि यदि ईसाई राज्य न रहा तो तुम्हारी भी बड़ी दुर्दशा होगी। जो शाही ज़माने में उन्नतिके लालचसे मुसलमान हुए थे अब उनके पास मिट्टीके हांडी कूंडों और बदनों के सिवाय कुछ नहीं है। क्या किसी के

अत्याचार से चिड़ कर तथा लालच में फंसकर धर्म छोड़ देना परलोक में हितकारी होसकता है। अभी तक शूद्रोंके नाम से इतिहास कलङ्कित नही हुआ है। परन्तु अब आशा होचली है कि आजकलके अज्ञानी अनेक शूद्र फूटका बीज बोकर भारत के भविष्य इतिहास में कलङ्कित होने से न बचेंगे। इन भोले भाले भाइयों को दोष नही है इन में इनकी ही जाति के छुपे हुए ईसाई महात्मा बनकर घुस पड़े हैं। और इनके सामने हिन्दुओं के अत्याचारों के फोटो खेंच कर इनको बहकाते फिरते हैं। परन्तु हिन्दुधर्मके श्रद्धालु अछूत भक्तों को घबड़ाना नही चाहिये क्योंकि अब उनकी विपत्ति के दीपक का अन्त होचला है।

आर्य समाजियों से मेरा कुछ कथन नही है, क्योंकि उन्होंने समझ रखा है, कि जब हम आर्यसमाजी ही बनगये अब और सुनना बाकी रहही क्या गया। न हमारा कुछ श्रोतव्य है, और न कर्तव्य एक आर्य बन जानेसे ही सब बेड़ापार होचुका, और सारे सुधार कर लिये। सब संसार पागल है, और हम ही दुनियाके एक नुकीले बुद्धिमान् हैं। अपने को सत्यके पक्षपाती कहते हुए भी निरे हठीले होते जाते हैं। न किसी की सुनते हैं और न किसी बात पर ठण्डे हृदय से विचार ही करते हैं। काम चाहे उतना न करें, परन्तु वावेला इतना मचा देते हैं कि बस मानो शोर और गुलसे ही जाति की रक्षा होजायेगी। इनका खयाल है कि सिवाय आर्यसमाज के संसार भरके धर्म सर्वथा निरे पोलकी पिटारी है। श्री कृष्णकी निन्दा कर देना तो इनके बायें हाथका खेल है, हाल में ही ता० ३१ अगस्त सन् १९२७ के अर्जुन में "इस बेहूदगी को बन्द करो" यह शीर्षक देकर यह लेख लिखा है।

"स्यालकोट से समाचार आया कि किसी आर्यसमाजीने "श्रीमद्भागवतलीला" नामका पैम्फलेट लिखकर श्रीकृष्ण को निन्दा छापी। जिसका उत्तर सनातनधर्मियों की ओर से दिया गया। हम उत्तर देने वाले को दोष नहीं देंगे हमारी तो कुछ शिकायत है वह उस आर्यसमाजी महाशय से है जिसने अपने पूर्वपुरुषाओं के सम्बन्ध में कुवाच्य लिख कर लेखनी को अपवित्र किया। ऐसे लोगों को शर्म आनी चाहिये जो आर्य समाज का नाम लेते हैं, और ऐसी अशिष्टता भरी किताबें लिखते हैं, वह आर्यसमाज के मित्र नहीं शत्रु हैं। आर्य समाज को चाहिये कि अपना बलवान् शस्त्र उठा कर महा पुरुषों के चरित्र को कलङ्कित करने वाले ऐसे लिक्खाड़ों की लेखनी तोड़दे, ऐसे लोग आर्यसमाज को लज्जित कराते हैं" इसके अतिरिक्त अनेक आर्य समाजी न भक्ति मार्ग को समझते हैं, न ज्ञान मार्ग को परन्तु हुज्जत करने में सब के सब एक नम्बर हैं अपनी लचर दलील को भी बड़े प्रेमसे सुनाते हैं। परन्तु दूसरे की बात कान पर आकर रपट जाती है, मानो सचाई समझना आर्य समाज के ही हिस्से में आया है। जहां स्वा० दयानन्द सरस्वती प्राचीन आदर्श नियत करना चाहते थे। उसके स्थान में नवीन सभ्यता की ओर बड़ी तेजीसे सरपट लगा कर भी अपने को भारत के सुधारक मानते हैं। आज स्वा० दयानन्द सरस्वती के कथन पर विश्वास नहीं है। उनके कथन को भी अपने खयाल के अनुसार ही खैंचने का बुरा प्रयत्न किया जारहा है, समाज के किसी व्यक्ति द्वारा कीगई गलती को अन्त तक निभाना चाहते हैं। चाहे उससे देश और जाति का कुछ भी नुकसान होजाय। पं० लेखरामजी एक जल्द बाज मनुष्य थे उन्होंने जो स्वामीजी का जीवन चरित्र लिखा है उसमें यह

लिख दिया कि "स्वामीजी को उनके रसोइये धौलमिश्र ( जगन्नाथ ) ने विष देदिया था। और स्वामीजी ने उसको ४०) रु० देकर नैपाल भगा दिया इसी असत्य घटना का बराबर आज तक ढोल पीटा जारहा है- पं० लेखरामजो पुलिसके एक प्रधान कर्मचारी थे। उनके ऊपर जब किसी मुकदमें में अफसरों का तकाजा आया करताथा तब फौरन किसी को फांसकर मिसल को मुकम्मिल बना दिया करते थे। आर्य प्रतिनिधिसभा का ऊपरसे जब स्वामीजीके जीवन चरित लिखनेका तकाजा आया उसी अभ्यास वश फौरन धौल मिश्र ( जगन्नाथ ) को फांस कर जीवन चरित को मुकम्मिल समाप्त कर दिया, परन्तु यह सब जानते हैं कि पं० लेखरामजी न तो स्वामीजी की जन्म भूमि का ही पता लगा सके, और न उनके पिताका नाम ही मालूम कर सके थे ये दोनों ही बातें उन्होंने अपने जीवन चरित में गलत लिखी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की यह नीतिह नहीं थी कि वे किसी अपराधी को बिना दण्ड मुक्त करदें। वैदिकप्रेसके रु० खाजाने वाले किसी कर्मचारी पर मुकदमा दायर करने केलिये इलाहाबाद किसी अपने व्यक्ति के पास स्वामी जी ने लिखा था कि अपराधी को छोड़ना नहीं चाहिये दावा दायर करदो। शायद यह पत्र "ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार" नामक पुस्तक में दर्ज हो। फिर इस तरह से विष देने वाले आततायी को ४०) रु० देकर भगा देने का गपौड़ा क्या मायनें रखता है। यदि विष देनेवाले को भी ४०) रु० देकर स्वामीजी नें भगा दिया तो स्वा० श्रद्धानन्द जी के कातिल को ४० ) रु० देकर आर्य समाज क्यों नहीं स्वामीजीका अनुकरण करता है" यदि ४०) रु० देकर अपने रसोइये को स्वामीजी भगाभी देते तो

उसका अर्थ यही समझना चाहिये था कि यहां की पुलिस मेरे विष देने वाले सच्चे अपराधी को तो नहीं पकड़ेगी और यदि यह विषकी घटना खुल गई तो इस रसोइयेको फांसी के तख़ते पर लटका देगी । इससे इसको रु० देकर भगा देना चाहिये क्योंकि यह निर्दोष है। परन्तु स्वामीने मृत्यु समय तक इस विषय में कुछ नहीं कहा और इन्होंने उनके मरे पीछे यह "मदारीका पेड़" खड़ा करलिया। बात तो सच यह है कि न तो स्वामीजी को विषही दिया गया और न स्वामीजी का रसोइया धौलमिश्र ( जगन्नाथ ) कहीं नैपाल हीं भागा । वह तो सन् १८२५ ई० तक "शाहपुरा" में जीवित था, स्वा० सत्यानन्द जीने भी अपने लिखे जीवन चरित में अच्छा गपोड़ा घड़ा है कि वह जगन्नाथ सं० १९७० वि० तक साधु हुआ गंगा तटपर फिरा करता था और उसे लोगोंने ब्रह्म हत्यारा लक्ष्य कर लिया था। धौलमिश्र शाहपुरा स्टेट का रहने वाला था इस लिये हमने इसकी बाबत महाराजा शाहपुराको लिखा कि इस घटना का क्या रहस्य है । उनका जो पत्र आया वह नीचे उद्धृत किया जाता है, और साथ ही धौलमिश्र ( जगन्नाथ ) के बयान भी लिख दिये है, वह पत्र इस प्रकार है।

॥ ओ३म् ॥

श्रीमान शास्त्री जी साहब की सेवा में सादर नमस्ते !

आपका पत्र श्रीहुजूर में मालूम हुआ उत्तर में निवेदन है के जन्मशताब्दी के पत्रों द्वारा विरोध करने पर धौलमिश्रका बयान लिया जाकर पूज्यश्रीस्वामी श्रद्धानन्दजी की सेवा में भेजागया और यह लिखा गया के रसोइयेका बयान लिया जाकर श्रा० की सेवा में भेजा जाता है। श्रीमान राजाधिराज साहब का भाषण जो शताब्दी महोत्सव पर हुवा है, वह निरा-

धार नहीं है। अगर आपकी आज्ञा होतो उपरोक्त रसोइये को राज के खर्चे से आपकी सेवा में भेजा जासक्ता है। श्रीमानजी का विचार है के यदि स्वामीजी महाराजके जीवन की महत्वता उनको विष दिये जाने में है तो इस बातका कोई विरोध नहीं परन्तु रसोइये द्वारा विष दिया जाना सिद्ध होने में कठिनाई है। सत्यको छुपाना नहीं चाहिये इसलिये जो बात मालूम हुई है। वह सेवा में प्रेषित है जो उचित समझें करें। धौलमिश्र के बयान से अली मर्दान डाक्टर के दवादेने में तो सन्देह होता है और कोई स्थान सन्देह का नहीं मिलता उस बयान की नकल आपके पास भेजी जाती है। रसोइये को ४०) रु० देकर नैपाल भेजना चित्रावली में दर्ज है। सो न तो ४०) रु० रसोइया को दिये गये और न वो नैपाल भागा जो उसके बयान से मालूम होता है। और यहां आने पर उस रसोइया ने इस रियासत की नौकरी जब तक वो जिन्दा रहा की, और अब वो फौत होगया। मरा जब तक वो राजके मामूली नौकरों में नौकर रहा, और उसकी हालात मामूली थी श्रीमानजी का तो अब भी यही फर्माना है के श्रीमान स्वामीजी महाराज के जीवन की महत्वता जिस में हो उसमें श्रीमान को कोई विरोध नहीं ता० १६।६।२७

पं० रामनिवास जोशी

मन्त्री आर्यसमाज शाहपुरा स्टेट।

॥ ओ३म् ॥

नकल बयान धौल मिश्र बाके २५-४/२५ ई०।

प्रश्न—आप स्वामी महाराज के साथ रसोई बनाते थे?

धौ०—जी हां।

प्र०—आप कब से स्वामीजी महाराज के साथ कैसे हुये।

धौ०—जब स्वामीजी महाराज यहां (शाहपुरामें) पधारे और कोठा ठहरे थे एक गासीलालजो वोहरा स्वामीजी के यहां पंखा खींचता था मुझे उनके दर्शनों को लेगया। उस समय स्वामीजी हौज़ में स्नान कररहे थे। स्वामीजी शरीर के बड़े मोटे तगड़े थे वहां गासीरामजी ने स्वामीजी से अर्ज किया के यह आदमी रसोई अच्छी बनाता है और ईमानदार है इससे रखले स्वामीजी ने फर्माया कल आना, मैं दूसरे दिन गया तब से रहने लगा।

प्र०—पहले कौन रसोइया था उसे क्यों निकाल दिया और वह कहां गया।

धौ० मुझे मालुम नहीं कौन था गासीरामजी कहते थे के वह चुराकर घी मलाई वगैरः खाता था इससे स्वामीजी महाराज नाराज़ थे मुझे मालूम नहीं वह कहां गया।

प्र०—यहां से स्वामीजी कहां गये।

धौ०—जोधपुर से मदानेजो चारण ( शुद्ध नाम उमरदान जी ) यहां बुलाने को आये तो स्वामीजी वहां पधारे मैं भी साथ ही गया।

प्र०—स्वामीजी के साथ और कौन २ था।

धौ०—स्वामीजी सोते बहुत कमथे बराबर लिखाते रहते थे इस लिये उनके साथ कई आदमी लिखने पढने वाले रहते थे एक सौदा सामान लाने को व एक नोकर चौका बर्तन करने वाला भी रहता था।

प्र०—तुम्हें किसी का नाम याद है।

धौ०—एक ब्रह्मचारी रामानन्द थे, और की नाम याद नहीं।

प्र०—स्वामीजी जोधपुर में कहां ठहरे थे।

धौ०—फैजुल्लाखांकी कोठी में।

प्र०—स्वामीजी बीमार किस प्रकार हुये।

धौ० स्वामीजी जोधपुर पधारे तो आश्विन का महिना था, वे रात को नित्य छतपर सोते थे, एक दिन पित्त होगया, या क्या जाने क्या हुआ, प्रातः जल्दी ही उठकर पानी पीकर उल्टी करने लगे। जिससे छातीमें दर्दहोने लगा एक वैद्यने गिलास लगाया जिससे कुछ आराम मालूम होने लगा यहां नौकर चाकर छड़ी दार चोबदार बहुत रहेथे जिनसे यह खबर श्री जो हजूर दर्बार के पास पहुंची थोड़ी ही देर बाद श्री दर्बार एक डाक्टर अलीमर्दान को लेकर मोटर में वहां पधारे और डाक्टरकी दवा लेने को अर्ज किया स्वामीजी महाराज ने पहले तो इन्कार किया लेकिन जब दर्बार ने तारीफकी तो दवा लेली बाद में दर्द बढ़ता ही गया फिर स्वामीजी आबू पधार गये।

प्र०—तुम भी साथ गये।

धौ०—मैं भी साथ गया।

प्र० जोधपुर में स्वामी जी के साथ जितने आदमी थे उन में से कोई भाग भी गया या सब साथ गये।

धौ० भागा कोई नहीं पहिले कलवा जाट चोरी करके भाग गया, था और वहां से कोई नहीं भागा जो स्वामी जी के साथ आये, थे सब साथ गये जो जोधपुर के थे, वे वहीं रह गये।

प्र०—रसोई बनाने वाला कोई और भी था, या तुम अकेले।

धौ०—मेरे सिवाय और कोई रसोइया नहीं था।

प्र०—स्वामीजी दूध मय २ और कैसा पीते थे।

धौ०—स्वामीजी दूध दोनों वक्त प्रातः सायं पीते थे कुच्छ साधारण गर्म कराते थे और कुच्छ मीठा भी डलवाते थे।

प्र० दूध कौन गर्म करता था।

धौ०—इस काम पर कोई खास आदमी नहीं था, कभी मैं करता कभी उनके साथ वाला कोई दूसरा आदमी कर लेता।

प्र०—जिस रातको बीमार पड़े उसरात को किसने गर्म किया।

धौ०—मुझ को याद नहीं।

प्र०—लेकिन वहां से भागा कोई नहीं।

धौ०—नहीं भागा कोई नहीं।

प्र०—क्या बीमारी में भी दूध पीते थे।

धौ०—नहीं बीमारी में खाली साबू दाना खाते थे।

प्र०—स्वामीजी हमेशा सुबह कब उठते थे और बीमार हुवे उस दिन कब उठे।

धौ०—हमेशा तीन बजे उठते थे लेकिन जिस दिन बीमार उस दिन कुच्छ देर से उठे।

प्र०—कोई जोधपुरका भी रसोइया वहां था या नहीं।

धौ०—जोधपुर का कोई रसोइया न साथ वहां रहा और न गया ही।

प्र०—आबूसे स्वामीजी कहां गये।

धौ०—आबू से स्वामीजी जब कुछ आराम नहीं मालूम हुवा तो अजमेर पधारे और भणाय राजा जी कोठी में ठहरे।

प्र०—अजमेर में कौन २ आये थे।

धौ०—अजमेर में बहुत बड़े २ आदमी आये परन्तु मुझे उनका नाम मालूम नहीं।

प्र०—जोधपुर में स्वामीजी कभी महलों भी गये थे।

धौ०—स्वामी जी महाराज प्रातः काल घूमने आया करते थे लेकिन जङ्गल में भी हजूर दर्बारही अकसर स्वामीजी के पास कोठी परही पधारते थे मुझे जहां तक मालूम है स्वामीजी कभी महलों नहीं गये।

प्र०—श्रीदर्बार कोठी पर रोज पधारते थे। और कब?

धौ०—शामको घड़ी दिन रहते स्वामीजी कुर्सी पर विराज तेथे, उस समय चार २ पांच २ हजार आदमी आतेथे, और रात तक रहते थे स्वामीजी व्याख्यान देतेथे उस समय दर्बार भी पधारते थे कभी २ नहीं भी पधारते थे।

प्र०—कौन २ आते थे।

धौ०—मुझे नाम तो मालूम नहीं लेकिन बहुत लोग आते थे, दोका नाम मुझे याद है प्रतापसिंहजी व किशोरसिंहजी।

प्र०—राव राजा तेजसिंह जी भी आते थे।

धौ०—इस बात को ४०—४२ साल हुए मुझको याद नहीं रावराजा जी भी आते थे या नहीं आते रहे होंगे।

प्र०—स्वामीजी व्याख्यान में लोगों को फटकारते भी थे।

धौ०स्वामीजी महाराज सच्ची बात कह देते थे किसी का लिहाज या संकोच नहीं करते थे कई यहीं व्याख्यान में कहाथा कि तुम लोग सिंह होकर कुत्तिया के पीछे क्यों फिरते हो ऐसे ही किसी को भी फटकार देते थे।

प्र०—क्या तुमने आबू में या अजमेर में कहीं सुनाके स्वामी को विष दिया।

धौ०—मैंने कहो नहीं सुनाको स्वामीजीको विष दिया गया।

प्र०—तुम्हारी उमर उस समय कितने वर्ष की थी।

धौ०—मैं २०-२२ सालका था।

प्र०—अजमेर में जिस दिन स्वामीजी का स्वर्गवास हुआ उस दिन किस प्रकार हुवा।

धौ०—स्वामीजी ने सवेरे ही बाल बनवाये और न्हाकर फूल माला गले में डालकर लोगों से कहा अब दिन में मुझ से कोई न मिलो शाम को सम्हाल लेना, मैं अब अपना चित्त परमात्मा में स्थिर करता हूं, बाद अन्दर चले गये शामको देखागया तो शव मिला फिर विमान वगैरा बनाया गया और दूसरे दिन बाजार से गाती बजाते अर्थी निकली।

प्र०—फिर तुम लोगों ने क्या किया।

धौ०—सब अपने २ घर चले गये मैं भी यहां ( शाहपुरे ) चला आया और तब से यहीं रहता हूं।

प्र०—तुम से पहले भी कोई ये बातें पूछने आया था।

धौ०—हां एक बंगाली बाबू आये थे और उन्होंने पूछा था मैंने येही बातें उनसे भी कही थी।

प्र०—अजमेर में तुमसे किसी ने पूछ ताछ नहीं की थी।

धौ०—नहीं। वहां किसीने कुच्छ नहीं पुछा।

प्र०—बंगाली बाबू कब आये।

धौ०—मुझे याद नहीं पर बहुत दिन हुये।

द० हिन्दी में भगवान स्वरूप जी
शर्मा न्यायभूषण.

द० हिन्दी में रामनिवास शर्मा
उपमन्त्री आर्यसमाज
राज्य,शाहपुरा ( मेवाड़ )

इस उपर्युक्त पत्र और धौलमिश्र के बयान देखने से इस विषय में सन्देह ही नहीं रह जाता कि स्वामीजी को रसोइये ने विष नहीं दिया था। जब स्वा० श्रद्धानन्द जी को यह मालूम हुआ कि स्वामीको विष नहीं दिया गया तो उन्होंने भी वकील

पनेके चाल करके इस बातको गुमराही और कहा होगा कि स्वामी जी की मृत्यु का महत्व इस प्रकारकी घटना से ही है।

राजा साहबने ऊपर पत्रमें कहा है कि "श्रीमान् जी का विचार है कि यदि स्वामीजी के जीवन की महत्वता उनको विष दिये जाने में है तो इस बात का कोई विरोध नहीं" परन्तु क्या किसी को मृत्यु को महत्वपूर्ण बनाने केलिये किसी को कलङ्कित करदेना न्याय सङ्गत है और क्या विष में मृत्यु महत्वपूर्ण होसकती है। मेरे विचार में तो इस से अधिक कोई बुरी बात नहीं है कि किसी निरपराधी के मुख को कलङ्क की कालिमा से सृष्टि के अन्त तक के लिये लीप दिया जाय, इस बनावटी घटना से आर्यसमाज को जो सनातनधर्मियों से ग्लानि हो गई है वह देश और जाति के लिये भयानक है, और हिन्दूसंगठनका महान् अन्तराय है। इस लिये देश और जाति के काम में पुलिस और वकीलों के हथकण्डों की आवश्यकता नहीं है। आर्यसमाज को ऐसी गलती निकाल देनी चाहिये। इस विषय को यदि अधिक जानने की इच्छा हो तो राव राजा तेजसिंह जी का शताब्दीसम्मेलन के अनन्तर समाचार पत्रों में किये हुए आन्दोलन को देखना चाहिये,

अब पाठकों की सेवा में अन्तिम यही निवेदन है कि जब देश और कालानुसार हिन्दू सभ्यताकी रक्षाके लिये ही भगवान् बुद्ध महावीरस्वामी शङ्कराचार्य श्रीनानकदेव स्वा० दयानन्द स० का आविर्भाव हुआ है, तब इस घोर सङ्कट के समय उन के अनुयायियों को आपस में शिर फुटौवल कर के अपनी प्राचीन सभ्यता का नाश नहीं करना चाहिये, सनातन धर्मियों को योग्य है कि वे परस्पर वर्गों के दोषोद्घाटनको छोड़ कर सरल हृदय से एक दूसरेका सुधार करनेका प्रयत्न करें, और जिन

प्रकार प्राचीन काल में भगवान् बुद्ध तथा ऋषभदेव आदि धर्म की सेवा करने वाले आचार्यों का उदारता से आदर करते थे उस प्रकार ही हिन्दूसंस्कृति की रक्षा करने वाले महात्मा कबीर, श्रीनानक और स्वा० दयानन्दसरस्वती, का आदर करना सीखें। तथा हिन्दूसंगठन के लिये सब कुछ न्योछावर करनेकेलिये हर समय सन्नद्ध रहे हिन्दूधर्मके शत्रुओंनेहिन्दूधर्मके वेरान करनेके लियेसाधारण तय्यारियें नहीं की हैं यदि आपकी जातिका नाशहो गया तो जो उन ऋषि और मुनियोंने कठ.भहसा कर के आप के लिये अनुपम साहित्य का कोष छोड़ा है न जाने हरीफ उस का क्या करेंगे, उस सुदर्शनधारी गीतो· पदेशक श्रीकृष्णका नाम कौन लेगा उन पद्मिनी आदि पतिव्रताओं का गुण गान कौन करेगा जिन्हों ने धर्म के लिये फूलों के समान सुकोमल शरीर को अग्नि देवता को समर्पण कर दिया था। अब आलस्यमें पड़े रह कर समय खोने का समय नहीं है संगठन का शंख बज चुका खड़े होजावो। वेद भगवान् का उपदेश है कि--

समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथावः सुसहासति ॥
यथा वः सुसहासति ( ऋग्वेद १० । १९१ । ४ ।

अर्थात्- तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो तुम्हारे अन्तः करण एक समान हो और तुम्हारा मन एक समान हो जिससे तुम्हारी सङ्घशक्ति की दृढता होगी । ऋग्वेद की समाप्ति में इस मन्त्र के आने के कारण इस में "यावः सुसहासति" इस पद की द्विरुक्ति की गई है. हमनेभी इसग्रंथ की समाप्तिदिखलाने के लिये द्विरुक्ति लिखदी है।

वेदवस्वङ्कचन्द्रे ऽब्दे वैक्रमे मासि चाश्विने
गुरुवारे सिते पक्षे विजयादशमीतिथौ ॥ १ ॥
सम्पत्तुरामात्मजातेन रामदुर्गनिवासिना
इदं गङ्गाप्रसादेन शास्त्रिणालेखि पुस्तकम् ॥ २ ॥
प्रेक्षावतां निरीक्ष्येदं हिन्दूसङ्गठने शुभे
वलीयसी प्रवृत्तिः स्यात्कृतकृत्यो मम श्रमः ॥ ३ ॥
मच्चित्ताऽचिन्तितः खेदो यदिस्यात्कस्य चेतसि
दया वशम्वदैः प्राज्ञैः क्षन्तव्योयंजनस्तुतैः ॥ ४ ॥

इति श्रीदयानन्दसरस्वतीनिजमतं समाप्तम्

तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु ।